

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३५ अंक-१६८, वर्ष-१५, सितम्बर-२०११

भादों सुदि ४, सोमवार, दि.३०-८-६५, श्री पद्मनंदि पंचविंशति आलोचना अधिकार  
गाथा १ से ३३ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-८

ये एक 'पद्मनंदि आचार्य' नौसो साल पहले दिगंबर मुनि हुए हैं। उन्होंने जंगल में आलोचना का अधिकार (लिखा है)। बहुत आध्यात्मिक आलोचना है। मानो जैसे भगवान के समीप बैठकर अपने परिणाम को परख रहे हों और स्वयं के कैसे परिणाम हैं उसे देखते हो, इस प्रकार आलोचना की है। आलोचन मतलब देखना। आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप है उसमें कितना रागादि हुआ, कितना नाश हुआ, उन्हें उस भूमिका के योग्य राग क्यों नहीं हुआ या कितना हुआ-उसका ज्ञान करना और विचार करके वस्तु में स्थिर होना उसे आलोचना कहते हैं।

'ॐ श्री पद्मनंदि आचार्य विरचिता पद्मनंदि पंचविंशति:कामें से,...' छब्बीस अधिकार हैं। आलोचना का नौवाँ अधिकार है। छब्बीस अधिकार में नौवाँ अधिकार।

'श्री पद्मनंदि आचार्य आदि मंगल से...' पहला मांगलिक शुरू करते हैं। 'आलोचना अधिकार की शुरुआत करते हैं।'

'अर्थ :- हे जिनेश, हे प्रभो यदि सज्जनों का मन अंतरंग तथा बहिरंग मल से रहित होकर तत्त्वस्वरूप तथा वास्तविक आनंद के निधान आपको, अवगाहन (आश्रयण) करता है...' यह तो अलौकिक आलोचना है हँ ! अध्यात्म आलोचना है। आलोचना का पूरा अर्थ तो एकबार हो गया है। यह तो एक ही घण्टे में पूरा पढ़ना है। 'और यदि उनके मन में आपके नाम का स्मरणरूप...' सर्वज्ञस्वरूपी आत्मा ऐसे परमात्मा हुए उनका जिनको स्मरणरूप। 'अनंत प्रभा का धारी महामंत्र मौजूद है तथा आप से प्रगट किये हुए...' आपके द्वारा - जिनेश्वर ने कहा ऐसा- 'सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूपी मोक्षमार्ग में यदि उनका गमन है तो उन सज्जनों को...' सत्जन को, 'अमीष्ट की प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आ सकता।' मांगलिक किया। भगवान ! आपके मार्ग में चढ़े और आपका मार्ग लिया उसे कदापि विघ्न नहीं हो सकता। इस मार्ग-पंथ पर चढ़े हैं तो इस पंथ का प्रयाण जरूर होगा, ऐसा करके पहले मांगलिक किया।

'भावार्थ :- यदि सज्जनों के मन में आपको ध्यान होवे...' वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा, ऐसे आत्मा व्यक्तरूप से परमात्मा हुए उनका ध्यान हो। 'आपका नाम स्मरणरूप महामंत्र मौजूद होवे और यदि वे मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले हों तो उनके अभिलाषित की...' माने स्वयं की इच्छित 'प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आ सकता।'



अब आचार्यदेव स्तुति द्वारा कौन देव हो सकता है ? केवलज्ञान की प्राप्ति का क्रम कैसा होता है ? इसका वर्णन करते हैं।

**‘२. अर्थ :- हे जिनेन्द्रदेव संसार के...’** देखो ! केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे हो इसका उपाय क्या (है) ? यह आलोचना करनेवाले जानते हैं। **‘हे जिनेन्द्रदेव संसार के त्याग के लिये परिग्रह रहितपना...’** बाह्य से बात की, अभ्यंतर में **‘रागरहितपना और समता...’** माने वीतरागता। **‘सर्वथा कर्मों का नाश...’** यह नास्ति से बात की। और रागरहितपना यह अस्ति से की है, वीतराग अस्ति से की, अब कर्म के नाश से क्या हुआ प्रभु आपको ?

**‘अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य के साथ समस्त लोकालोक को प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान ऐसा क्रम आपको ही हुआ था...’** देखिये ! देव को पहचाननेवाले देव कैसे हुए उसका ज्ञान उनको होता है। इसके अलावा कुदेव का ज्ञान उनको छूट गया है। यह देव का प्रायश्चित्त करते हैं कि, देव तो ऐसे होते हैं इनके अलावा कोई देव नहीं हो सकता। **‘किन्तु आपसे भिन्न किसी...’** देखो ! नास्ति अनेकान्त करते हैं। **‘आपसे भिन्न किसी देव को यह क्रम नहीं था...’** दूसरे चाहे कितनी ही बातें करते हों परन्तु हे नाथ ! केवलज्ञान प्राप्त करने का यह क्रम आपको ही प्राप्त हुआ है, अन्य को यह हो ही नहीं सकता। क्यों ? कि, **‘आपही शुद्ध है तथा आपके चरणों की सेवा ही...’** अर्थात् आपके कहे हुए दर्शन-ज्ञान, शांति की सेवा ही **‘सज्जनों की सेवा के पात्र हैं।’** ऐसा प्रायश्चित्त लेते हैं कि, इनके सिवा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की जो मान्यता हो वह हमारा निष्फल हो। ऐसे देवों को हम मान्य करते हैं, जिनको क्रम से दिव्य शक्ति की प्राप्ति हो गई है।

**‘भावार्थ :- आपने ही संसार से मुक्त होने के लिये हे भगवन् समस्त परिग्रह का त्याग किया है...’** देखो ! वस्त्र, पात्र आदि तो सर्वज्ञ को मुनि होते हैं तभी से नहीं होते। **‘तथा रागभाव को छोड़ा है और समता को...’** और वीतरागता को धारण की है। **‘अनंत विज्ञान अनंतवीर्य, अनंतसुख और अनंतदर्शन आपके ही प्रकट हुवे हैं इसलिये आप ही शुद्ध तथा सज्जनों**

**की सेवा के पात्र हैं।’** अन्य कोई पात्र नहीं है।

**‘सेवा का दृढ निश्चय और प्रभु सेवा का माहात्म्य :’**

**‘३. अर्थ :- हे तीनलोक के ईश यदि मेरे निश्चय से आपकी सेवामें दृढपना है तो मुझे अत्यंत बलवान भी संसाररूपी वैरी का जीतना कोई कठिन बात नहीं क्योंकि जिस मनुष्य ने जल के वर्षण से हर्ष को...’** जल के वर्षण से हर्ष को **‘करनेवाले उत्तम फव्वारा सहित घर को प्राप्त कर लिया है उस पुरुष का जेठमास की अत्यंत तीक्ष्ण भी दुपहर की धूप कुछ भी नहीं कर सकती।’** आपके स्वभाव का निर्णय किया कि, आप वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं - ऐसा आपके (स्व)भाव का मैंने निर्णय किया तो अब ये कर्म के उदय का आताप हमें क्या कर सकता है ? कोई हमें पीछेहट नहीं करवा सकता।

**‘भावार्थ :- जिसप्रकार फव्वारा सहित उत्तम घर में बैठे हुवे पुरुष का जेठमास की अत्यंत कठोर भी दुपहर की धूप कुछ नहीं कर सकती उसीप्रकार यदि मैं निश्चय से आपकी सेवा में दृढ रीति से स्थित हूँ तो मुझे बलवान भी संसाररूपी वैरी कुछ भी त्रास नहीं दे सकता।’**

**भेदज्ञान द्वारा साधकदशा :-**

देखो ! धर्मी की साधकदशा कैसी होती है इसका भान आलोचना के कर्ता को है। इससे विरुद्धभाव का उनको अभाव है। भगवान !

**‘४. अर्थ :- यह पदार्थ सार है और यह असार है इसप्रकार सारासार की परीक्षा में एकचित्तहोकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीनोंलोक के समस्तपदार्थों का...’** देखिये ! अनंत पदार्थ हैं, बुद्धिमान उसकी परीक्षा करनेवाला है ऐसा यह सब सिद्ध करते हैं। **‘बाधारहित गहरीदृष्टि से विचार करता है...’** **‘बाधारहित गहरीदृष्टि से विचार करता है उस पुरुष की दृष्टि में हे भगवन् आप ही एक सारभूत पदार्थ हैं...’** वीतराग विज्ञानघन आत्मा ही साररूप दिखता है, अन्य कोई साररूप नहीं दिखता। **‘आपसे भिन्न समस्तपदार्थ असारभूत ही हैं अतः आपके आश्रय से ही मुझे परम संतोष हुआ है।’**

अब आचार्यदेव पूर्ण साध्य का वर्णन करते हैं :-

कौन-सा साधक, अब पूर्ण साध्य-साधक को फल का (वर्णन करते हैं)।

'५. अर्थ :- हे जिनेन्द्र समस्त लोकालोक को एकसाथ जाननेवाला तो आपका ज्ञान है...' देखो ! आलोचना कर्ता को यह भान है। ये सर्वज्ञ स्वभाव और उसके एक समय का ज्ञान तीनकाल, तीनलोक को, सामान्य विशेष को एक समय में जाननेवाला होता है। (ऐसा) आपका ज्ञान है। 'समस्त लोकालोक को एकसाथ देखनेवाला आपका दर्शन है और आपके अनंतसुख और अनंतबल है तथा प्रभुपना भी आपका अतिशयकर निर्मल है और शरीर भी आपका...' देखो ! शरीर 'देदीप्यमान है...' आपका आत्मा तो पवित्र है ही लेकिन (आपका) शरीर भी परम औदारिक हो गया है। देखिये ! भगवान का शरीर स्फटिक जैसा होता है। उनके (शरीर में) रोग हो या साधारण शरीर हो ऐसा नहीं बनता। (अगर ऐसा हो) तो वहाँ पुण्य की कमी है, (लेकिन) जहाँ पूर्ण पवित्रता वहाँ पुण्य भी पुरे-पूर्ण ही होते हैं। उनका परमऔदारिक शरीर स्फटिक जैसा हो जाता है। इसीलिये निश्चय और व्यवहार-पुण्य और पवित्रता - दोनों की व्याख्या करते हैं।

'यदि योगीश्वरों ने समीचीन योगरूपी नेत्र से...' देखो ! आगे कहा है। तीर्थकर प्रभु का शरीर परम औदारिक और स्फटिक रत्न जैसा निर्मल होने से देदीप्यमान होता है। जो योगीश्वर माने अंतर की दृष्टि करनेवाले, जोड़नेवाले। योग में ईश्वर माने आत्मा के स्वभाव में जुड़ान करने में भी ईश्वर। ऐसे सम्यक् योगरूप-सच्ची श्रद्धा, ज्ञान, शांति संबंधित योग से 'आपको प्राप्त कर लिया तो क्या तो उन्होंने जान न लिया ? और क्या उन्होंने देख न लिया ? तथा क्या उन्होंने पा न लिया ? (अर्थात् सब कर लिया)। आहा..हा...! (यदि) सर्वज्ञ को जाना, अरिहंत को जाना (पहचाना) तो मेरा आत्मा भी ऐसा ही है इसका ज्ञान हुवे बिना रहे नहीं। महाराज ! आपको जाननेवाला सब जान लेता है।

'भावार्थ :- यदि योगीश्वरों ने अपनी उत्कृष्ट...' ऐसी आलोचना ये दिगंबर संत कह सके या कर सके

ऐसी आलोचना अन्य कहीं नहीं है। ऐसे जंगल में बसनेवाले संतों ने आलोचना की है लेकिन ऐसी अलौकिक की है ! 'योगीश्वरों ने अपनी उत्कृष्ट योगदृष्टि से अनंतगुणों के धारी आपको देख लिया...' देखो ! अनंतगुण संपन्न। 'तो उन्होंने सब कुछ देख लिया और सब कुछ जान लिया तथा प्राप्त कर लिया।'

पूर्ण प्राप्ति का प्रयोजन :-

आत्मा सर्वज्ञता को प्राप्त हो उसका प्रयोजन।

'६. अर्थ :- हे जिनेन्द्र ! आपको ही मैं तीनलोक का स्वामी मानता हूँ...' अर्थात् जाननेवाला। 'आपको ही अष्टकर्मों का जीतनेवाला तथा अपना स्वामी मानता है और केवल आपको ही भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ और सदा आपका ही ध्यान करता हूँ तथा आपकी ही सेवा और स्तुति करता हूँ।' दूसरों की नहीं, ऐसे इसमें से नास्ति ले लेना। 'और केवल आपको ही मैं अपना शरण मानता हूँ अधिक कहने से क्या ? यदि कुछ संसार में प्राप्त होवे तो यही होवे कि आपके सिवाय अन्य किसी से भी मेरा प्रयोजन न रहे।' वीतरागभाव के अलावा अन्य कोई मेरा प्रयोजन न रहे, ऐसी साधक की आलोचना में प्रार्थना है।

'भावार्थ :- हे भगवन् आपसे ही मेरा प्रयोजन रहे...' अर्थात् वीतरागभाव के साथ ही प्रयोजन रहे 'आपसे भिन्न...' रागादि 'अन्य से मेरा किसी प्रकार का प्रयोजन न रहे यह विनयपूर्वक प्रार्थना है।'

अब आचार्यदेव आलोचना का प्रारंभ करते हैं :-

छः गाथा में तो भक्तिपूर्वक परमात्मा को दृष्टि में सिद्ध किया और अब पाप और पुण्य की आलोचना करते हैं।

'७. अर्थ :- हे जिनेश्वर भूतकाल में जो पाप मैंने भ्रम से मनवचनकाय के द्वारा दूसरों से कराये हैं तथा स्वयं किये हैं और दूसरों को पाप करते हुए अच्छा कहा है तथा...' ये सब अस्तिरूप में स्थापित करते हैं। पूर्वकाल में ये सब मैंने किया था। 'तथा उसमें अपनी सम्मति दी है...' अनुमोदन 'और वर्तमान में जो पाप मैं मनवचनकाय के द्वारा दूसरों से कराता हूँ तथा स्वयं करता हूँ और अन्य को करते हुवे

भला कहता हूँ...’ ये जितना रागादि हो उस अपेक्षा से जानना। ‘और भविष्यत्काल में जो मैं मनवचनकाय से पाप कराऊंगा...’ अर्थात् जितना भी शुभराग आदि, पुण्य आदि भाव हो वह सब परमार्थ से अंतर में पाप है। ‘स्वयं करुंगा और दूसरे को करते हुवे अच्छा मानुंगा वे समस्त पाप आपके सामने...’ ज्ञातादृष्टा के, स्वभाव के लक्ष्य में रहकर ‘अपनी निन्दा करनेवाले मेरे सर्वथा मिथ्या हो।’ समझ में आया ?

‘भावार्थ :- भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों काल में जिन पापों का मैंने मनवचनकाय तथा कृतकारित अनुमोदना से उपार्जन किया है तथा करुंगा और करता हूँ उन समस्त पापों का अनुभव कर हे जिनेश्वर मैं आपके सामने अपनी निन्दा करता हूँ इसलिये वे समस्त पाप मेरे मिथ्या हो।’ अर्थात् पर्याय में नहीं रहो।

आचार्यदेव प्रभु की अनंत ज्ञान, दर्शन शक्ति का वर्णन करते हुवे आत्मशुद्धि हेतु आत्मनिन्दा करते हैं :-

‘८. अर्थ :- हे जिनेन्द्र यदि तुम भूत भविष्यत् वर्तमान तीनोंकालों के गोचर नाना पर्ययोंसहित लोक तथा अलोकको चारोओर से एक साथ जानते हो तथा देखते हो तो हे स्वामिन् मेरे एक जन्म में होनेवाले पापों को क्या तुम नहीं जानते हो ? अर्थात् अवश्य ही जानते हो इसलिये अपने को स्वयं निन्दताहुवा जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचन) करता हूँ सो केवल शुद्धि के लिये ही करता हूँ।’ देखो ! आलोचना भी निष्कपटता से, सरलता से जैसे बालक अपनी माता के पास अपने दोष कहता है वैसे भगवान या श्रीगुरु के पास खुद सरलता से, बालकपने से कहे उसे आलोचना कहा जाता है।

‘भावार्थ :- हे भगवन् जब तुम अनंतभेदसहित लोक तथा अलोक को एकसाथ जानते हो तथा देखते हो तो आप मेरे समस्त दोषों को भी भलीभांति जानते हो...’ माने जानते ही हो। ‘फिर भी जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचन) करता हूँ सो केवल आपके सुनाने के लिये नहीं किन्तु शुद्धि के लिये...’

मेरे शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से आलोचना करता हूँ।

अब आचार्यदेव भव्य जीवों को उनके आत्मा को तीन शल्यरहित रखने का बोध देते हैं :-

माया, निदान, मिथ्यात्व शल्य हो तब तक उसे व्रतादि नहीं हो सकते। निःशल्यो वृत्ति। मिथ्यादर्शन, मिथ्याशल्य हो तब तक समकित नहीं और निदान आदि के दो शल्य हो तब तक व्रत नहीं। समझ में आया ?

‘९. अर्थ :- हे प्रभो ! देखो ! कैसी स्तुति करते हैं ! ‘व्यवहारनय को आश्रयण करके...’ और हमें महाव्रत आदि व्यवहार नय का आश्रय है। पंच महाव्रत आदि होते हैं वह। ‘मूलगुण तथा उत्तरगुणों को धारण करनेवाले मुझ मुनी को जिस दूषण का भलीभांति स्मरण है...’ ज्ञान में पता है। कहाँ, कैसा दोष हुआ वह सब ज्ञान में पता है।

‘उस दूषण की शुद्धि के अर्थ आलोचना करने के लिये हे प्रभो जिनेन्द्र मैं आपके सामने सावधानीसे बैठाहुवा हूँ क्योंकि ज्ञानवान भव्यजीवों को सदा अपना मन माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंकर रहित ही रखना चाहिये।’ ऐसे शल्यसहित हो उसको जैसे लोहे के बाण शरीर में जंग लगे और कलेजा सड़ जाये वैसे तीन शल्यमें से कोई भी एक शल्य भीतर में रह जाये तो उसका आत्मा सड़ जाये और बिगड़ जाये। समझ में आया ?

स्वभाव की सावधानी :-

‘१०. अर्थ :- हे भगवन् इस संसार में समस्तजीव वारंवार असंख्यातलोक प्रमाण प्रकट तथा अप्रकट नाना प्रकार के विकल्पोकर सहित हैं...’ शुभ और अशुभ दोनों, शुभ और अशुभ दोनों कहा न ? असंख्यात् लोकप्रमाण प्रगट तथा अप्रगट नाना प्रकार के विकल्पसहित होते हैं। देखो ! नीचे (फूटनोट में) शुभ-अशुभभाव कहे हैं। ‘ये जीव है उतने ही नाना प्रकार के दुःखोकर सहित भी है...’ जितने प्रकार के शुभ-अशुभ विकल्प हैं राग के शुभ-अशुभभाव हैं वे सब दुःखरूप हैं। ‘किन्तु जितने विकल्प हैं उतने प्रायश्चित शास्त्र में नहीं है...’ इतने कहे कैसे शास्त्र में ? असंख्य प्रकार के शुभ-अशुभ परिणाम (को बताने के लिए) असंख्य शब्दों

हो नहीं सकते। शब्द तो संख्यात ही होते हैं। 'इसलिये उन समस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पों की शुद्धि आपके पास में ही होती है।' यानी की भगवान आत्मा के समीप ही उन विकल्पों का नाश हो जाता है।

'भावार्थ :- यद्यपि दूषणों की शुद्धि प्रायश्चित्त के करनेसे भी होती है किन्तु हे भगवन् जितने दूषण हैं उतने प्रायश्चित्त, शास्त्र में नहीं कहे गये हैं इसलिये समस्त दूषणों की शुद्धि आपके समीप में ही होती है।'

पर से परान्मुख होकर स्व की प्राप्ति :-

'११. अर्थ :- हे भगवन् समस्तप्रकार के परिग्रहों से रहित और समस्तशास्त्रों का जाननेवाला तथा क्रोधादिकषायों से रहित और एकान्तवासी जो भव्यजीव समस्त बाह्यपदार्थों से मन तथा इन्द्रियों को हटाकर तथा अखंड और निर्मल सम्यग्ज्ञानरूपी मूर्तिके धारी आपमें स्थिरकर आपको देखता है वह मनुष्य आपकी समीपता को प्राप्त होता है।'

स्वभाव की एकाग्रता से उत्तमपद-मोक्ष की प्राप्ति :-

'१२. अर्थ :- हे अर्हत् प्रभु ! पूर्वभव में कष्ट से संघय कियेहुवे बड़ेभारी पुण्य से जिस मनुष्यने हे भगवन् तीनलोक के पूजनीक आपको पालिया है उसमनुष्य को उसउत्तमपद की प्राप्ति होती है जिसको निश्चय से ब्रह्मा विष्णु आदि भी नहीं पा सकते परन्तु हे अर्हजिनेन्द्र तथा हे नाथ मैं क्या करूं ? आपके समीप में लगाया हुवा भी मेरा चित्त... देखो ! यहाँ मन का प्रायश्चित्त करते हैं, मन थोड़ा अस्थिर हो जाता है उसका। 'मेरा चित्त प्रवल रीति से बाह्यपदार्थों की ओर ही दौड़ता है।' शुभाशुभ जो विकल्प उठते हैं यही बड़ा खेद है। आहा..हा...!

मोक्ष हेतु वीर्य का वेग :-

'१३. अर्थ :- हे जिनेश यह संसार तो नानाप्रकार के दुःखों का देनेवाला है और वास्तविक सुखका स्थान है अथवा वास्तविक सुखका देनेवाला मोक्ष है...' यानी आत्मा की संपूर्ण निर्मलदशा। 'इसलिये उसीमोक्ष की प्राप्ति के लिये हमने समस्त धनधान्य आदि परिग्रहों का त्याग किया...' मुनि स्वयं अपनी बात

करते हैं। 'तपोवनको भी प्राप्त हुवे...' जंगल में भी वास किया। 'समस्त प्रकार का संशय भी छोड़ दिया तथा अत्यंत व्रत भी धारण किये किन्तु अभीतक उन कठिन व्रतों के धारणकरने से भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई...' स्वयं की अपूर्णता की आलोचना-खेद करते हैं। 'क्योंकि पवन के समूह से कपाये हुवे पत्ते के समान...' ओहो..! प्रभु हमारा मन अस्थिर होता है, प्रभु कैसे सिद्धि होगी ? आहा..हा...! 'हमारा मन रातदिन बाह्यपदार्थों में भ्रमण करता रहता है।' उसे मनरहित होकर केवलज्ञान कब होगा ?

मन को संसार का कारण जानकर पश्चाताप :-

'१४. अर्थ :- हे भगवन् जो मन बाह्यपदार्थों को मनोहर मानकर उनकी प्राप्ति के लिये जहां तहां भटकता है और जो ज्ञानस्वरूप भी आत्मा को बिना प्रयोजन सदा अत्यंत व्याकुल करता रहता है तथा जो इन्द्रियरूपी गांव को बसानेवाला है...' मन हो तो इन्द्रिय का लक्ष्य होता है। मन बिना इन्द्रिय के प्रति लक्ष्य नहीं जाता। 'अर्थात् इस मन की कृपा से ही इन्द्रियों की विषयों में स्थिति होती है और जो संसार के पैदा करनेवाले कर्मों का परममित्र है...' आहा..हा...! 'अर्थात् आत्मारूपी घरमें सदा कर्मोंको लाता रहता है ऐसा मन जबतक जीवित रहता है तबतक मुनियों को कदापि कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती।' ओहो..हो...! मन में अस्थिरता का भी खेद है। प्रभु ! पूरा वीतराग निर्विकल्प स्वभाव से परिणमता तत्त्व इसमें ये क्या ? ऐसे आलोचन करके उससे हटकर स्वभाव की ओर आना चाहते हैं।

मोह के नाश हेतु प्रार्थना :-

'१५. अर्थ :- निर्मल तथा अखंडज्ञानस्वरूप आपको पाकर मेरा मन मृत्यु को प्राप्त हो जाता है इसलिये हे जिनेन्द्र नानाप्रकार के विकल्पोंकर युक्त मेराचित्त आपसे बाह्य समस्त पदार्थोंमें ही निरंतर घूमता फिरता है।' मन को ऐसा होता है कि, यदि ये अंदर गया, ये जायेगा तो मुझे मार डालेगा, इसलिये बाहर फिरता रहूंगा तो जीवित तो रहूंगा। विकल्प, विकल्प। 'क्या किया जाय ? क्योंकि मृत्यु से सर्व ही डरते

हैं अतः यह सविनय प्रार्थना है कि समस्तप्रकार के अनर्थों को करनेवाला तथा अहितकारी इस मेरे मोह को नष्ट करो।

‘भावार्थ :- जबतक मोह का संबन्ध आत्मा के साथ रहेगा तबतक चित्त मेरा तेरा करने से बाह्यपदार्थों में घूमता ही रहेगा और जबतक चित्त घूमता रहेगा तबतक सदा आत्मा में कर्मों का आवागमनभी लगाही रहेगा तथा इसरीति से आत्मा सदा व्याकुल ही रहेगा इसलिये हे भगवन् इस सर्वथा नानाप्रकार के अनर्थों के करनेवाले मेरे मोह को नष्ट करो जिससे मेरी आत्मा को शान्ति मिले।’

सर्व कर्मों में मोह ही बलवान है ऐसा आचार्य दर्शाते हैं :-

‘१६. अर्थ :- ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों के मध्य में मोह ही अत्यंत बलवान कर्म है...’ निमित्त की बात है। भावकर्म है सो बलवान है। ‘इसी मोह के प्रभाव से यह मन जहां तहां चंचल होकर भ्रमण करता है और मरण से डरता है...’ देखो ! मन मृत्यु से डरता है। ‘यदि यह मोह न होवे तो निश्चयनय से न तो कोई जीवे और न कोई मरे क्योंकि आपने जो इसजगत को अनेक प्रकार देखा है...’ विविध प्रकार की अवस्था को देखा वह तो पर्यायनय से है। ‘द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नहीं...’ द्रव्य से तो वस्तु ऐसी की ऐसी ध्रुव है। ‘द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नहीं इसलिये हे भगवन् इस मेरे मोह को ही सर्वथा नष्ट कीजिये।’

परसंयोग को अध्रुव जानकर उससे हटकर, एक ध्रुव आत्मस्वभाव में स्थित होने की भावना :-

‘१७. अर्थ :- पवनकर व्याप्त ऐसा जो समुद्र उसकी जो जललहरीं उनके समूह के समान सर्वकाल तथा सर्वक्षेत्रों में यह जगत क्षणभर में विनाशीक है...’ पर्याय क्षण में बदल जाती है, वैसे। ‘ऐसा भलीभांति विचारकर यह मेरा मन इससमय है जिनेन्द्र समस्त संसार के उत्पन्न करनेवाले जो व्यापार उनसे रहित होकर निर्विकार परमानंदस्वरूप परब्रह्म जो आप हैं सो आपमें ही ठहरने की इच्छा करता है।’ ध्रुव में

स्थिर होने की ही भावना करते हैं।

शुभ-अशुभ उपयोग से हटकर शुद्ध उपयोग में निवास की भावना :-

देखो ! वर्तमान मुनि की बात है, हूँ ! शुद्ध उपयोग अभी नहीं - ऐसा नहीं होता, ऐसा कहते हैं देखो !

‘१८. अर्थ :- जिससमय अशुभ उपयोग रहता है उससमय तो पाप की उत्पत्ति होती है तथा उस पाप से जीव नानाप्रकार के दुःखों को प्राप्त होते हैं और जिस समय शुभ उपयोग रहता है उससमय धर्म (पुण्य) की उत्पत्ति होती है...’ संवर-निर्जरा शुभ में नहीं है। ‘तथा धर्म से जीवों को सुख मिलता है।’ आज लिखाई तो काफ़ी आई है। अरे..! विचार कीजिये, विचार कीजिये ! पोपट की माफिक, तोते की माफिक रटता रहता है। ऐसा दाखिला दिया है, एक तोता बैठा था उसको कहा, उड़ जा, उड़ जा। तो सुनकर उड़ जा, उड़ जा सिख लिया। कोई मारने आया तो भी उड़े नहीं। इसतरह आप तोते की तरह रट लगाये बैठे हो, पुण्य विष्टा, पुण्य विष्टा, पुण्य विष्टा। और करते तो रहते हो, ऐसा कहते हैं। अरे..! भक्ति, पूजा का भाव आये बिना रहता नहीं, सुन तो सही। दृष्टि में इसका आदर नहीं होता। अस्थिरता के पाप से हटकर पुण्य के भाव आये बिना रहते नहीं। दृष्टि क्या ? वस्तु क्या इसे तो वे क्या जाने !

‘तथा धर्म से जीवों को सुख मिलता है...’ सुख माने अनुकूल संयोग, हूँ ! ‘ये दोनों पापपुण्यरूपी द्वन्द्व संसार के ही कारण हैं अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता रहता है किन्तु शुद्धोपयोग से अविनाशी तथा आनन्दस्वरूपपद की प्राप्ति होती है...’ ये श्लोक के अर्थ हैं, हूँ ! घर के (बनाये हुवे) नहीं हैं। ‘पद्मनंदि पंचविंशति’ का ये नौवाँ अधिकार, इसके श्लोक के ही ये अर्थ हैं। ये अपने कहते हैं न ! इसमें अपना घरका तो नहीं जोड़ दिया न ? ‘हे जिनेन्द्र आप तो उस पद में निवास करते हैं तथा मैं शुद्धोपयोगरूपी पद में निवास करता हूँ।’

आत्मस्वरूप का नास्ति से और अस्ति से वर्णन :-

‘१९. अर्थ :- जो आत्मस्वरूप तेज...’ भगवान

चैतन्य ज्योति 'न तो भीतर स्थित है और न बाहिर स्थित है तथा न दिशा में ही स्थित है और न मोटा है न महीन है तथा आत्मारूपी तेज न तो पुल्लिंग है और न स्त्रीलिंग है तथा नपुंसकलिंग भी नहीं है और न भारी है और न हलका है तथा जो तेज कर्म, स्पर्श, शरीर, गंध, संख्या, वचन वर्ण से रहित है और जो निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञान सम्यक्दर्शनस्वरूप है मूर्ति जिसकी ऐसा है उसी उत्कृष्ट तेजस्वरूप मैं हूँ... रागादि मैं नहीं, मैं तो उत्कृष्ट चैतन्य ज्योतिस्वरूप हूँ। 'किन्तु आत्मस्वरूप उत्कृष्टतेज से भिन्न नहीं हूँ।' उत्कृष्ट आत्मस्वरूप-ज्योति स्वभाव, इससे मैं भिन्न नहीं हूँ।

त्रिकाली आत्मा की शक्ति :-

'२०. अर्थ :- हे भगवन् चैतन्य की उन्नति को नाशकरनेवाले और विनाकारण ही सदा वैरी इस दुष्टकर्मने आप में तथा मुझ में भेद डाल दिया है...' प्रभु ! किन्तु कर्मशून्य अवस्था में जैसी आपकी आत्मा है वैसी ही मेरी आत्मा है तथा इस समय यह कर्म आपके सामने मौजूद है इसलिये इस दुष्ट को हटाकर दूर करो...' अर्थात् मैं ज्ञाता हूँ और ये रागादि है ऐसा विवेक वर्तता है इसलिये उसका नाश करता हूँ। आप(भी) इसे नष्ट करे ऐसा कहने में आता है। 'आपके सामने मौजूद है इसलिये इस दुष्ट को हटाकर दूर करो क्योंकि नीतिवान् प्रभुओं का यही धर्म है कि वे सज्जनों की रक्षा करें तथा दुष्टों का नाश करें।' आता है न 'गीता' में ? कि, भक्तों की भीड़ (तकलीफें) दूर करने भगवान् अवतार लेते हैं, राक्षसों का नाश करते हैं। वैसे नहीं, यह भाई ! यह सत् जन नाम सत् स्वरूप भगवान् आत्मा इसका तो ऐसा नीतिमान लोकोत्तर चैतन्य की नीति का धर्म ऐसा है कि सज्जनों की रक्षा करें, स्वभाव की शांति की रक्षा करे और विभावरूपी राक्षसों का नाश करें।

आत्मा का अविकारी स्वरूप :-

'२१. अर्थ :- हे भगवन् नानाप्रकार के आकार तथा विकारों को करनेवाले मेघ आकाश में रहते हुए भी जिसप्रकार आकाश के स्वरूप का कुछ भी

हेरफेर नहीं करते उसीप्रकार आधि, व्याधि, जरा, मरण आदि भी मेरा कुछ नहीं कर सकते...' कर नहीं सकते। 'क्योंकि ये समस्त शरीर के विकार जड़ हैं तथा मेरी आत्मा ज्ञानवान् और शरीर से भिन्न है।' देखिये ! ये संकल्प-विकल्प शरीर का रोग और बाह्य जन्म-मरण ये सब शरीर के बदलाव हैं, जड़ हैं मेरे में है नहीं।

स्व में सुख और पर में दुःख :-

'२२. भावार्थ :- जिसप्रकार स्थल में पड़ी हुई मछली दुःखित रहती है उसीप्रकार इस नानाप्रकार के दुःखों से भरे हुवे संसार में मैं भी सदा संतप्त रहता हूँ तथा जिसप्रकार वही मछली जबतक जल में भीतर रहती है तबतक सुखी रहती है उसीप्रकार जबतक मेरा मन करुणारूपी रससे अत्यंत शीतल आपके चरणकमलों में प्रविष्ट रहता है तबतक मैं भी सुखी रहता हूँ इसलिये हे भगवन् आपके चरणकमलों को छोड़कर मेरा मन दूसरी जगह न प्रवेश करै जिससे मैं दुःखी रहूँ यही प्रार्थना है।' कितनी आलोचना ! कैसी आलोचना ! अनाकूल आनंदमूर्ति, उसमें से हट न जाऊँ और हट जाऊँ तो दुःखरूप दशा हो जाती है। इसलिये उस दुःख में न चला जाऊँ और आपके समीप रहूँ यानी कि स्वभाव के समीप रहूँ।

आत्मा और कर्म की भिन्नता :-

'२३. अर्थ :- हे भगवन् इन्द्रियों के समूहकर सहित जो मेरा मन बाह्यपदार्थों से संबन्ध करता है उसीसे नानाप्रकार के कर्म मेरी आत्मा के साथ आकर बंधते हैं किन्तु वास्तविक रीति से मैं उनकर्मों से सर्वकाल में तथा सर्वक्षेत्र में जुदा ही हूँ तथा आपके भी चैतन्यसे भी सर्वथा वे कर्म जुदे ही हैं अथवा उस चैतन्य से कर्मोंके भेद करने में आप ही कारण हैं।' स्वभाव ही कारण है। 'इसलिये हे शुद्धात्मन् हे जिनेन्द्र निश्चय से मेरी स्थिति आपही में है।' निश्चयपूर्वक मैं वीतराग परिणाम में ही हूँ मैं राग-बाग में हूँ नहीं।

धर्मी की अंतर भावना :-

'२४. अर्थ :- हे आत्मन् न तो तुझै लोक से काम है और न दूसरे के आश्रय से काम है तथा

न तुझे द्रव्य से प्रयोजन है और न शरीर से प्रयोजन है तथा तुझे बचन और इन्द्रियों से भी कुछ काम नहीं और प्राणों से भी प्रयोजन नहीं... लीजिये। पाँच इन्द्रिय का काम नहीं है, तीन बल, श्वास और आयुष्य। 'नानाप्रकार के विकल्पों से भी कुछ काम नहीं क्योंकि ये समस्त पुद्गलद्रव्य की ही पर्यायें हैं...' लीजिये ! पुण्य-पाप के परिणाम सब पुद्गल के परिणाम हैं मेरे नहीं। प्रभु ! मेरे में यदि हो तो कैसे निकल जाये ? 'और तेरे से भिन्न है तो भी बड़ेखेद की बात है कि तू इनको अपना मानकर आश्रय करता है सो क्या तू दृढ़ बंधन को प्राप्त नहीं होगा ?' उसका आश्रय करेगा तो जरूर बँधेगा, इसलिये आश्रय मत करना।

भेदविज्ञान द्वारा आत्मामें से विकार का नाश :-

'२५. अर्थ :- धर्मद्रव्य...' धर्मास्ति एक पदार्थ है। 'अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारोंद्रव्य मेरे किसीप्रकार के अहित को नहीं करते हैं किंतु ये चारोंद्रव्य गति, स्थिति आदि कामों में सहकारी है इसलिये ये मेरे सहायी होकर ही रहते हैं...' परन्तु एक ये पुद्गलद्रव्य 'नोकर्म (तीन शरीर छै पर्याप्ति) तथा कर्म हैं स्वरूपजिसका ऐसा तथा समीप में रहनेवाला और बंध का करनेवाला एक पुद्गल ही मेरा बैरी है इसलिये उसीके इससमय में भेदरूपी तलवार से खंड २ उड़ा दिये हैं।' सो तो हमने सही अर्थ किया है। अशुद्धभाव है सो बैरी है, वह कर्म है ऐसा कहने में आता है।

राग-द्वेष का त्याग :-

'२६. अर्थ :- जीवों के नानाप्रकार के रागद्वेषों के करनेवाले परिणामों से जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य परिणमित होता है उसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल ये चार अमूर्तिकद्रव्य रागद्वेष के करनेवाले परिणामों से परिणमित नहीं होते तथा उसरागद्वेष के द्वारा प्रबलकर्मा की उत्पत्ति होती है और उसकर्म से संसार होता है तथा संसार में नानाप्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये कल्याण की अभिलाषा करनेवाले सज्जनों को चाहिये कि वे राग तथा द्वेष को सर्वथा छोड़ दें।' कल्याण की इच्छा हो तो छोड़ना,

ऐसा कहते हैं।

आनंदस्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान और मनन :-

'२७. अर्थ :- हे मन ! बाह्य तथा तुझसे भिन्न जो स्त्री पुत्र आदिपदार्थ हैं उन में रागद्वेषस्वरूप अनेक प्रकार के विकल्पों को करके क्यों दुःख के लिये तू व्यर्थ अशुभ कर्म को बांधता है ? यदि तू आनंदरूपी जल के समुद्र में शुद्धात्मा को पाकर उसमें निवास करेगा तो तू विस्तीर्ण निर्वाणरूपी सुख को अवश्य प्राप्त करेगा इसलिये तुझे आनंद स्वरूप शुद्ध आत्मा में ही निवास करना चाहिये और उसीका ही ध्यान तथा मनन करना चाहिये।'

आत्मा मध्यस्थ साक्षी है :-

'२८. अर्थ :- हे जिनेन्द्र आपके चरणकमलों की कृपा से पूर्वोक्त बातों को भलीभांति मन में चिंतवकर जिस समय यह प्राणी शुद्धि के लिये अध्यात्मरूपी तुला (तखड़ी) चढ़ता है...' शुद्ध आत्मा में जहाँ अंदर जाना चाहता है... उससमय उसको दोषी बनाने के लिये कर्म रूपी भयंकर बैरी मौजूद है इसलिये है भगवन् ! ऐसी दशा में आप ही मध्य में बैठकर साक्षी हैं।' यह राग है और यह स्वभाव है इसका साक्षी ज्ञाता आत्मा है। उसे जाननेवाला भगवान आत्मा स्वयं है।

अब विकल्पस्वरूप ध्यान तो संसार स्वरूप है और निर्विकल्प ध्यान मोक्षस्वरूप है ऐसा आचार्य दर्शाते हैं :-

'२९. अर्थ :- द्वैत सविकल्पक ध्यान तो वास्तविकरीति से संसार स्वरूप है...' कहते हैं कि, ये सविकल्प गुणी-गुण के भेदरूप विकल्प भी संसारस्वरूप है। आहा..हा...! भगवान ऐसे गुणी और उसमें रहे ये गुण ऐसा भेदविकल्प भी उदयभाव संसार है। वास्तविकता से वह संसार स्वरूप ही है। 'तथा अद्वैत (निर्विकल्पक) ध्यान मोक्षस्वरूप है' अकेला भगवान ज्ञायक स्वभाव उसकी निर्विकल्पता से एकाग्रता यही मोक्षस्वरूप है। ये दोनों की व्याख्या की। 'संसार तथा मोक्ष में अंतदशा को प्राप्त संक्षेप से कथन है...' लीजिए ! संसार और मोक्ष में प्राप्त उत्कृष्ट दशा का यह संक्षिप्त कथन है।



शुभाशुभ परिणाम सो संसार और भगवान का निर्विकल्प ध्यान वह मोक्षस्वरूप। अभी तो इसके लिए ही तकरार चलती है न ?

'जो मनुष्य इन दोनोंमें से आदि का जो द्वैतपद है उससे धीरे से हटकर अद्वैतपद को आलम्बन...' अद्वैत माने आत्मा, हँ ! अद्वैत माने सब को मिलाकर एक आत्मा, ऐसे नहीं। राग-द्वेष से युक्त, विकारयुक्त वह विकल्प और निर्विकल्प आत्मा का..। समझ में आया ? 'अद्वैतपद का आलम्बन करता है वह पुरुष वास्तविक रीति से नामरहित हो जाता है अथवा उसी पुरुष को व्यवहारनय से...' उसे ऐसे भगवान आत्मा को 'ब्रह्मा धाता आदि नाम से पुकारते हैं।' ब्रह्मा, विष्णु कोई अन्य चीज नहीं है। भगवान आत्मा की पूर्ण शुद्धता को ब्रह्मा, विष्णु आदि कहा जाता है।

**दृढ श्रद्धा की महिमा :-**

'३०. हे जिनन्द्रदेव जो आपने केवलज्ञानरूपी दृष्टि से मुक्ति के लिये चारित्र का वर्णन किया है उस चारित्र को इस भयंकर कलिकाल में मेरे समान मनुष्य बड़ी कठिनता से धारण कर सकता है किन्तु पूर्वकाल में संचित जो पुण्य उससे जो मेरी आपमे दृढ भक्ति है...' पुण्य से ही भक्ति है ऐसे नहीं, हँ ! वह तो मेरे पुरुषार्थ संस्कार से मेरे में जो दृढता है। 'दृढ भक्ति है वही हे जिन मुझे संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान हो...' मुझे संसारसमुद्र से यह भक्ति ही पार उतार सकेगी। ऐसा कहकर कहते हैं कि, चारित्र की जो निर्मलता चाहिये उतनी नहीं है परन्तु हमारे ध्यान में आत्मा पूर्णानंद है ऐसी हमें प्रतीति की भक्ति निश्चय वर्तती है, वही हमारे पूर्णानंद की प्राप्ति का उपाय है। जहाज है, यही जहाज संसार के समुद्र को पार कर लेंगा।

'भावार्थ :- विना कर्मों का नाशकर मोक्ष को प्राप्ति नहीं हो सकती और कर्मों का नाश आपके द्वारा वर्णन किये हुवे चारित्र (तप) से होता है...' चारित्र माने मुनिपना। 'उस तप को शक्ति के अभाव से इस पंचमकाल में हे भगवन् मुझ सरीखा मनुष्य...' देखो ! आचार्य छठे गुणस्थानक में (महासमर्थ) मुनि हैं।

आहा..हा...! 'इसलिये हे भगवन् यही प्रार्थना है कि भाग्य के उदय से जो आप में मेरी दृढभक्ति है उसीसे मेरे कर्म नष्ट हो जावे और मुझे मोक्ष की प्राप्ति होवे।'

**मोक्षपद की प्राप्ति हेतु प्रार्थना :-**

'३१. अर्थ :- इस संसार में भ्रमणकर मैंने इन्द्रपना...' इन्द्रपना माने यह अहमिन्द्र आदि। मूल में जो इन्द्रपना है वह तो अनादि में भी न मिले। 'निगोदपना और बीच में अन्य भी समस्त प्रकार की योनि अनंतबार प्राप्त की हैं इसलिये इन पदवियोंमें से कोई भी पदवी मेरेलिये अपूर्व नहीं...' नया नहीं है, अनंतबार सब मिल चुकी है। 'किन्तु मोक्षपद को देनेवाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी अभीतक नहीं मिली है इसलिये हे भगवन् यह प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी को ही पूर्ण करो।' बस ! तीन तो हैं (अब) पूर्ण करो। यह अपूर्व है बाकी तो अनंतबार देव-देवियों, बड़ा इन्द्र, नववीं ग्रैवेयक अहमिन्द्र अनंतबार हुआ। इसमें कुछ नया या अपूर्वता नहीं है। अरबपति अनंतबार हुआ यह कोई नया या अपूर्वता नहीं है। बराबर होगा ?

क्या नया ? क्या मिला ? धूल। अरबपति हुआ उसमें क्या नया हुआ ? अनंतबार हुआ है।

मुमुक्षु :- नवीन मिला...

पूज्य गुरुदेवश्री :- क्या नया मिला। कुछ नया मिला नहीं, वही का वही है। आत्मा मिले तो वह नया है। आत्मा के आनंद की प्राप्ति और पूर्णानंद की प्राप्ति अपूर्व है जो कि अनंतकाल में नहीं मिली। अपूर्व लब्धि तो वह है, यह सब तो धूल है। अनंतबार मिला ऐसा कहते हैं। भव अनंतबार हुए। उसमें कुछ मेरे लिये नया नहीं है।

**मुमुक्षु की मोक्षप्राप्ति हेतु दृढता :-**

'३२. अर्थ :- बाह्य तथा अभ्यंतर लक्ष्मी से शोभित ऐसे श्री वीरनाथ भगवानने...' उनके गुरु भी वीरनाथ भगवान हैं न ! 'अपने प्रसन्नचित्त से सब से ऊँचे पद की प्राप्ति के लिये जो मेरे चित्त में उपदेश जमाया है...' आहा..हा...! तू शुद्धात्मा है ऐसा मेरा गुरु

और तीर्थकरोंने अनादि से मुझे कहा है 'अर्थात् उपदेश दिया है उस उपदेश के सामने क्षणभर में विनाशीक ऐसा पृथ्वी का राज्य मुझे प्रिय नहीं है...' क्या कहते हैं ? कि, हम पंचम आरा के मुनि हैं, पता है कि यहाँ राग से पुण्य बाँधकर स्वर्ग में जायेंगे। इसका निषेध करते जाते हैं। अंतिम गाथाएँ हैं न ! पृथ्वी का राज भी हमें प्रिय नहीं है तो फिर स्वर्ग का देव होंगे या ये होंगे वह हमें प्रिय है ही नहीं।

'यह बात तो दूर रहो किन्तु हे प्रभो हे जिनेन्द्र उस उपदेश के सामने तीनलोकका राज्य भी मुझे प्रिय नहीं है।' समझ में आया ? तीनलोक के पूजनिक तीर्थकर की, बाहर की पदवी मिले वह नहीं, मुझे तो केवलज्ञान घन बनना है। बाहर में लोग पूजा करे और माने ऐसी पुण्य के फल की स्थिति का मुझे कुछ काम नहीं है। आहा..हा...! मृत्यु के अंतिमकाल में इस तरह भावना भाते-भाते चले जाते हैं स्वर्ग में। निषेध, निषेध। पुण्य के परिणामों का निषेध, उसके फल का निषेध, स्वर्ग का निषेध (करते हैं)।

'भावार्थ :- यद्यपि संसार में पृथ्वी का राज्य तथा तीनलोक का राज्यमिलना भी एक उत्तमबात है किन्तु हे भगवन्...' अर्धलोक के स्वामी होते हैं न देव। 'प्रसन्नचित्त से श्रीवीरनाथ भगवानने जो मुझे उपदेश दिया है उसके सामने...' देखो ! उपदेश में कथित भाव के प्रति के प्रेम के आगे 'वे दोनों बातें मुझे इष्ट नहीं है इसलिये मैं ऐसे उपदेश का ही प्रेमी हूँ।' अंतिम तैतीसवीं गाथा। भाषा तो देखो ! एक तो नौवाँ अधिकार और तैतीस गाथाएँ। केवल वीतरागता का वर्णन। नौ की संख्या अटल (अफर) और तैतीस गाथा। कहते हैं कि, ऐसे स्वभाव का लक्ष्य करके परमात्मा के समीप आकर ऐसी आलोचना जो कोई करता है...

'३३. अर्थ :- श्रद्धा से जिसका शरीर नम्रीभूत है...' आहा..हा...! अकड़-फकड़ (अभिमान) ऐसा कुछ नहीं है। प्रभु ! ऐसा विनय है, परमात्मा के आगे इतना नम्रीभूत है। 'ऐसा जो मनुष्य श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा की गई आलोचना नाम की कृति को तीनोंकाल श्री अर्हन्तदेव के सामने पढ़ता है...' अपने ज्ञान को अंदर

में साक्षी रखकर कहे, जाने 'वह बुद्धिमान मनुष्य उसपद को प्राप्त होता है जिसपद को चिरकालपर्यंत...' बाह्य व्यवहार लिंग आदि। 'तपकर बड़े २ मुनि घोर प्रयत्न करनेपर प्राप्त करते हैं।' ऐसा पदार्थ ज्ञातादृष्टा के भाव से प्राप्त हो सकता है।

'भावार्थ :- जो मनुष्य (स्वभाव के भानसहित) देखो ! स्वभाव के भानसहित। 'प्रातःकाल मध्याह्नकाल तथा सायंकाल तीनोंकालों में श्री अर्हन्तदेव के सामने आलोचना का पाठ पढ़ता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है...' भगवान ! लेकिन पंचमकाल में तो मोक्ष नहीं है और यहाँ-तहाँ मोक्ष-मोक्ष की बातें ! सुन तो सही ! आत्मा पर से भिन्न पड़ा वही उसे मोक्ष है। हे नाथ ! 'तीनों कालों में श्री अर्हन्तदेव के सामने आलोचना का पाठ पढ़ता है वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त होता है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को...' छूटने के इच्छावान को, बंधन की इच्छावाले के लिए हमारा यह उपदेश नहीं है। छूटने के इच्छावान को 'श्री अर्हन्तदेव के सामने पद्मनन्दि आचार्य द्वारा बनाई हुई आलोचना नामक कृतिका तीनोंकाल पाठ करना चाहिये।' अर्थात् सुबह, शाम आत्मा पर से भिन्न है उसका भान बारंबार रखना। इसके भान से ही आलोचना होती है और इसी भान द्वारा मुक्ति होती है, अन्य कोई उसका उपाय नहीं है।

यह आलोचना-अध्यात्म आलोचना है। यह अलौकिक आलोचना का सभा में बत्तीसवीं बार स्वाध्याय हुआ है। एक बार संप्रदाय में पढ़ा था। इकतीस साल यहाँ हुए। यह बत्तीसवीं बार। भाई ! सुना था कभी ? पढ़ा नहीं है ? यह अध्यात्म आलोचना, अध्यात्म माने सर्वज्ञ परमात्मा का स्वभाव (है) ऐसा (ही) मेरा स्वभाव (है) ऐसा दृष्टि में रखकर, सरलता से निःशल्य होकर अपने विकार आदि परिणामों को देखे, देखे तो टले बिना रहे नहीं। उसीका नाम आलोचना और प्रायश्चित्त, उसीको मिच्छामी दुक्कड्म कहा जाता है। मिच्छामी दुक्कड्म माने सिर्फ हाथ जोड़ना नहीं है। यह मेरा स्वभाव और यह विपरीत भाव, ऐसा विवेक करके उसको मिथ्या (नाश) करना। स्वभाव की एकता करना उसका नाम आलोचना और प्रायश्चित्त कहने में आता है। ३३ वीं गाथा पूरी हुई।



**परमागमसार, वचनामृत-७७-७८ पर  
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन,  
प्रवचन नं.५ (दि.१६-१०-१९८२, भावनगर)**

'जिसे सुखी होना हो उसे कहते हैं।' यानी 'गुरुदेव' इस प्रकार शुरूआत करते हैं कि भाई ! तुझे सुखी होना है न ! तो सुखी होने के लिये तू जो भी प्रयत्न करता है, इसमें तो तुझे सुख की प्राप्ति नहीं होती। अगर वास्तव में तुझे सुखी होना हो तो सुख व ज्ञान से भरी हुई वस्तु है आत्मा स्वयं ही तेरा स्वरूप है, इसके सन्मुख हो जा। यही एक सुखी होने का प्रकार है, दूसरा कोई सुखी होने का प्रकार नहीं है।

('कलश टीका' में) तेरहवाँ कलश है, बहुत अच्छा कलश है। कहते हैं न कि, शास्त्र पढ़ने का बंधन नहीं है वह (बात) इस तेरहवें कलश में है। 'आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या।' वह है। (समयसार की) चौदहवीं और पंद्रहवीं गाथा के बीच में है। चौदहवीं गाथा पूरी होने के पश्चात् और पंद्रहवीं गाथा शुरू होने से पहले आचार्यदेवने यह कलश लिखा है।

**आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या**

**ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्धवा।**

**आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिषप्रकम्प-**

**मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात्॥१३॥**

'निवेश्य' मतलब प्रवेश ऐसा अर्थ होता है। 'नित्यम् समन्तात् अवबोध' प्रविष्ट होकर, 'निवेश्य' नाम प्रवेश पूर्वक। स्वयं अपने में ही प्रवेशपूर्वक। जो आत्मा का अनुभव है वह शुद्धनयपूर्वक होता है। 'शुद्धनयात्मिका' कहा न ? शुद्धनयपूर्वक होता है। अर्थात् शुद्ध वस्तु जैसी है वैसी अनुभव में आती है वह आत्मानुभूति है, और आत्मानुभूति है वही निश्चय से ज्ञानानुभूति है, ऐसा जानकर, ऐसा स्वीकार करके शुद्धात्मा का अनुभव कर अथवा ज्ञान का अनुभव कर, ऐसा कहा जाता है।

ज्ञान का अनुभव और आत्मा का अनुभव एक ही है। नामभेद है, भावभेद नहीं है, वस्तुभेद नहीं है, ऐसा

कहना है। 'इस प्रसंग पर दूसरा भी संशय होता है...' आत्मानुभव मोक्ष का मार्ग है ऐसा स्थापित किया, वहाँ 'इस प्रसंग पर दूसरा भी संशय होता है...' कि, ज्ञान तो द्वादशांग के ज्ञान को भी ज्ञान कहा जाता है, वह ज्ञान है ? वह द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है, ऐसा कोई जानेगा, ऐसा कोई संशय कर लेगा।

उसे समाधान यों देते हैं कि 'द्वादशांगज्ञान भी विकल्प है।' विकल्प की कक्षा में ले लिया। द्वादशांग ज्ञान भी विकल्प है। और उस विकल्प में भी ऐसा उपदेश है, उस विकल्प में भी ऐसा फरमान है कि 'शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है।' ऐसा फरमान है। 'इसलिये शुद्ध आत्मानुभूति होने से शास्त्र बंधन नहीं है।' अथवा अनुभवी के लिये उसने शास्त्र पढ़ा है कि नहीं, ऐसा बंधन नहीं है, अनुभवी को उसका बंधन नहीं है।

कभीकभार 'गुरुदेवश्री' समक्ष चर्चा चलती तब ऐसा विचार आता था कि 'गुरुदेवश्री' ने कुछ कहा हो फिर बाहर के कोई विद्वान, अखबार सब आते थे, धार्मिक अखबार, उसमें चर्चा निकालते थे कि 'कानजीस्वामी' ऐसा कहते हैं परन्तु शास्त्र में इसका आधार कहाँ मिलता है ? ऐसी कोई बात जब चलती तब ऐसा विचार आता था कि, अनुभवी को शास्त्र का बंधन कहाँ रहता है ? तब ऐसा विचार आता था, हँ ! उनके श्रीमुख से निकला वही शास्त्र है। ज्ञानी के श्रीमुख से निकला वह आगम ही है, वह शास्त्र ही है। इसके लिये फिर शास्त्र का आधार चाहिये, यह बात ढूँढ़ने जैसी या इसके पीछे जाने जैसा नहीं है कि, उन्होंने जो कहा ऐसा कोई शास्त्र आधार मिलता है या नहीं ? यह बात विचार करने योग्य नहीं है। क्योंकि वह जो उनके आत्मामें से निकला वह स्वयं ही आगम है। फिर इन्हें शास्त्र आधार का बंधन नहीं रहता। लिखनेवाले को, पुछनेवाले को पता नहीं होता

है लेकिन कहीं न कहीं आधार मिल ही जाता है और अगर नहीं मिले तो भी वह आगम ही है।

'श्रीमद्जी' तो स्वयं पत्र में लिखते हैं कि हमने ये जो कहा वह आगम है। आगममें से यह बात मिल जायेगी, अगर नहीं मिले तो भी हमने जो कहा वह आगम ही है। ऐसा मान लेना। ऐसा स्पष्ट लिखते थे। और बात वास्तव में ऐसी ही है। श्रुतज्ञान में ऐसा जो भासित होता है, वह केवलज्ञान तुल्य भासित होता है। जैसे केवलज्ञान में जानने में आये, वह अफर है, बदलता नहीं वैसा यहाँ अनुभवसहित के श्रुतज्ञान में, अनुभूतिरूप श्रुतज्ञान में जो आया वह केवलज्ञानतुल्य होता है।

'श्रीमद्जी' के बारे में बहुत बातें चलती थी तब 'गुरुदेवश्री' ने ऐसी बात की थी। किसीने शंका की थी कि, वैसे 'श्रीमद्जी' कहते हैं कि हमारा अभी एक भव है, एकावतारी हैं। उन्हें तो जबकि मतिश्रुत ज्ञान था अवधि, मनःपर्यय या केवलज्ञान तो था नहीं तो इस बात को कितना सही माने ?

तब 'गुरुदेवश्री'ने ऐसा कहा, मेरी उपस्थिति में ही चर्चा चली थी, जैसा केवलज्ञान में आता है उतना ही श्रुतज्ञान में आता है। ऐसी श्रुतज्ञान की निर्मलता में जब कोई बात भासित हो तब इतनी ठोस हो तो ही ज्ञानी प्रसिद्ध करते हैं। केवलज्ञानवत् भासित होवे तभी प्रसिद्ध करते हैं। वरना ऐसी बात वे प्रसिद्ध नहीं करते। क्योंकि कोई उसे उलटे दृष्टिकोण से आत्मश्लाघा में ले जाते हैं, जैसे कि ये तो आत्मप्रशंसा की बात है, अपनी प्रशंसा हेतु ऐसी बात करते हैं।

जैसे ये जातिस्मरण और दूसरी-तीसरी बात में आक्षेप आता है न ? ऐसे। कहते हैं कि ऐसा है नहीं। आत्मप्रशंसा ज्ञानी को नहीं रुचती और वह उनकी रुचि का विषय है भी नहीं। आत्मिकगुण है वह उनकी रुचि का विषय है और उन्हें तो वे प्रसिद्ध कर ही रहे हैं। अंतर्मुख स्वभाव की स्पर्शना द्वारा ऐसे गुणों को तो वे प्रसिद्ध कर ही रहे हैं। फिर उसकी रुचि में पड़े हुए को निंदा या प्रशंसा का कोई प्रश्न नहीं उठता, उससे वे निरपेक्ष हैं।

शुद्धात्मानुभूति होनेपर शास्त्र पढ़ने का कोई बंधन नहीं है। ऐसा नहीं कह सकते कि, यह ज्ञानी अनुभवी

तो हैं लेकिन उन्होंने कहाँ शास्त्र पढ़े हैं, या उन्हें कहाँ शास्त्र की कोई जानकारी है ? कहते हैं कि, ऐसा बंधन, ऐसा certificate लेना ज्ञानी को आवश्यक नहीं है, ऐसा है।

मुमुक्षु :- 'टोडरमलजी' तो कहते हैं कि, जिनकी सत् के विषय में भूल नहीं है उनकी दूसरे प्रयोजन के विषय में भूल होती ही नहीं।

पूज्य भाईश्री :- स्वतत्त्व में भूल नहीं है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसा जो आत्मस्वभाव उस आत्मस्वभाव को ग्रहण करने तक का, स्व के रूप में प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान में, अनुभूति में लेने तक का कार्य जिसका हुआ उसकी भूल देखने का प्रश्न ही नहीं उठता। और ऐसी भूल निकालनेवाले कौन तो वे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी लोग होते हैं। ज्ञानी को तो भूल दिखती नहीं है। परंतु 'मिथ्यादृष्टि' अज्ञानी जीवों को भ्रमणावश और प्रवर्तमान क्षयोपशम के मद से - अभिमानवश ज्ञानी की भूल निकालते हैं कि देखो, शास्त्र में यहाँ लिखा है, आप ज्ञानी मानते हो, तो ऐसा कहते हैं। कहते हैं कि यह बात ज्ञानी को बंधनरूप लागू नहीं पड़ती। ज्ञानी को इसका बंधन नहीं है, जाओ ! कलश, टीकाकार ने यह बात निकाली है। मूल में ऐसी बातें नहीं लिखी हैं परन्तु उन्होंने अपने अनुभव से और स्वतंत्र अपनी योग्यता से (निकाली हैं)। ऐसी बातें 'कलश'में से निकाली हैं जो कि अपनी स्वतंत्र तैयारीमें से निकाली हैं। वह तेरहवें कलश पर के प्रवचनमें से यह ७७, ७८ और ७९ तीन बोल।

कहते हैं कि, सुखी होना हो तो तू शास्त्र का अध्ययन करना ऐसा नहीं कहा। शास्त्र का पठन करना, शास्त्र कंठस्थ करना, मुखपाठ करना या तुम कोई दूसरी क्रिया करना ऐसा कुछ नहीं कहा 'जिसे सुखी होना हो उसे कहते हैं कि जो शुद्ध-चैतन्य वस्तु है।' आत्मा जो शुद्ध चैतन्यवस्तु है उसे पहले स्थापित करने की बात है, यह तो है। तू माने या न माने परन्तु वस्तु तो जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है सो है, है और है ही। 'शुद्ध चैतन्यवस्तु है वह सर्वांग...' उसके सर्व अंग में, सर्व प्रदेशों में 'ज्ञान से भरी हुई है...' ऐसा लिया है। अनन्त गुण से भरी हुई है। अनन्त स्वभाव से भरी हुई है। फिर भी ज्ञानानुभूति का यह कलश है इसलिये ऐसा

कहते हैं कि ज्ञान से भरी हुई है।

इसी ग्रंथ में एक बोल चुना हुआ है कि, स्व-पने वेदन में आता हुआ ज्ञान वही आत्मा है। पर्याय है कि आत्मा है ? वही आत्मा है। ७३३ नंबर (का बोल) है। 'परद्रव्य ओर की वृत्ति अशुभ हो चाहे शुभ हो पर यह आत्मा नहीं है।' अनात्मा है। राग नहीं लिया किसी भी गुण की पर्याय वर्तती हो, भले ही स्वयं ज्ञान की पर्याय वर्तती हो परन्तु परद्रव्य की ओर वर्तमान वर्तती वृत्ति है सो आत्मा नहीं है। शुभराग और अशुभराग तो आत्मा है ही नहीं परन्तु किसी गुण के परिणाम है सो आत्मा नहीं है।

अब कहते हैं कि, 'स्व-रूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है।' बहुत अच्छा वचन निकाला है। स्व-रूप से अनुभव में आनेवाला ज्ञान, जबकि वह तो पर्याय है। अनुभव में आता हुआ ऐसा लिया न ? तो अनुभव में तो पर्याय आती है न। 'स्व-रूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है।' जाओ ! अब इस ज्ञान का अनुभव तो सर्वसामान्यरूप से, सर्व जीवों को हो रहा है, उसका ध्यान उस पर नहीं है इसलिये पता नहीं चलता है। अगर उसका ध्यान जाये और वह स्व-रूप में अनुभव में आये तो उसे ही आत्मा कहते हैं। वही ज्ञानानुभूति है, वही आत्मानुभूति है और उन्हें शास्त्रज्ञान का कोई बंधन नहीं है। शास्त्रज्ञान की लंबी-चौड़ी तमाम प्रकार की परीक्षामें से मुक्ति। हमलोग यह पाठशाला में पहली कक्षा, दूसरी कक्षा, तीसरी कक्षा, ऐसे हरएक कक्षा में उसके अंत में परीक्षा ली जाती है न ! उसमें सवाल का जवाब सही हो तो पास होता है और सवाल के जवाब गलत हो तो पास नहीं होता। यहाँ मुक्ति दे दी है।

'स्व-रूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है।' और यह आत्मानुभूति वही ज्ञानानुभूति और ज्ञानानुभूति वही आत्मानुभूति है। 'ऐसे ज्ञान के स्वसंवेदन की कला ही मोक्ष की कला है। आत्मानुभव की यह कला ही सच्ची कला है। उसका बारम्बार अभ्यास करने योग्य है।' यहाँ भी लेते हैं कि, 'दुःख से छूटना हो व सुखी होना हो तो परभावों से भिन्न आत्मा को जानकर, उसी का अभ्यास...' उसी के अनुभव का

'अभ्यास करना योग्य है।' शास्त्र का अभ्यास करने जैसा है सो बात नहीं करते। अनुभव का प्रयास करने जैसा है। किसमें से यह लिया है ? 'प्रवचनसागर के मोती' 'प्रवचनसागर के मोती', हमने प्रवचनसागर नाम का एक selection का ग्रंथ प्रसिद्ध किया है न ! 'प्रवचनसागर के मोती' उसमें 'गुरुदेव' के कुछएक वचन चुने हुए हैं, इसमें से पसंद किया है।

यह वचन बहुत अच्छा आया है कि 'स्व-रूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है।' जिसे अनुभव की कला की रीत सीखनी है, इसके लिये यह बहुत आसान हो जाये ऐसा है कि ज्ञान का स्व-पने अनुभव किया जाये, स्वसंवेदन में लिया जाये तो उनको आत्मा हाथ लग गया और मोक्ष प्राप्ति की मोक्षकला उसके हाथ लग गई। इतना ही संक्षेप है, बहुत संक्षेप में है, अभेद है न ! भेद में लंबा-लंबा विस्तार होता है। अभेद में विस्तार कहाँ है ? अभेद में तो अभेद वेदन है और अभेद वेदन ही वेदन में गहरा जाता है। लंबा-चौड़ा उपयोग फैलता नहीं परन्तु भीतर आत्मा के सर्वांग जो असंख्य प्रदेश हैं, उसी में ही, उस वेदन में ही गहरा उतरता है, आखिर शुक्लध्यान की श्रेणी तक।

कहते हैं कि 'शुद्ध चैतन्य वस्तु है वह सर्वांग ज्ञान से भरी हुई है...' प्रदेश-प्रदेश में अपरिमित ज्ञानस्वभाव से भरी हुई है। जिसका सामर्थ्य केवलज्ञान की एक समय की पर्याय से भी अनन्तगुण विशिष्ट है, ऐसे इतने ज्ञान से भरी है !! आत्मवस्तु, शुद्ध चैतन्यतत्त्व शरीर के संग में रहा तत्त्व है, वह ऐसे ज्ञान से भरी है। 'उस ओर सन्मुख होना...' ज्ञान में उसे प्रत्यक्ष करना '...ही सुखी होने का मार्ग है,...' इसके सन्मुख होने पर सुख का - आत्मिक सुख का अनुभव होता है। इसके सिवा जगत के किसी भी प्राणी को सुख का अनुभव ही नहीं है। कल्पित सुख का अनुभव हो तो भी वह वास्तव में सुख का अनुभव नहीं है किन्तु दुःख का अनुभव है, माना है भले ही उसे सुख का अनुभव। कहते हैं कि, ऐसे स्वरूप के सन्मुख होना, अनन्त गुणमय स्वरूप के सन्मुख होना वह सुखी होने का मार्ग है। उसे धर्म कहा जाता है 'वही धर्म है।' नाम अपेक्षा उसका नाम जैनधर्म ऐसा

रखा गया है, क्योंकि उस कला में दूसरे विभाव और विकार पर उसका विजय है। किसी अन्य विभाव, विकार में वह खींच नहीं जाता, विभाव के प्रवाह से बाहर निकलकर अनुभव करता है, उस प्रवाहमें से निकलकर अनुभव करता है इसलिये उसे जीता, जैन हुआ, जीता ऐसा कहा जाता है।

लिया न ? कि, समुद्र में तूफान हो और नाव उलटी दिशा में खींची जाती हो उसवक्त जोर लगा-लगाकर नाव को किनारे पर ले आये तब उसे जीता कहा जाता है। ऐसे अनादि के विभाव से बाहर निकलता है, विभाव के तूफान से बाहर निकलता है। संसार समुद्र तैरकर प्रथम चतुर्थ गुणस्थान के किनारे आता है तब उन्हें जैन कहा जाता है। वैसे तो करणलब्धि में 'जिन' कहे हैं। 'धवल'कारने तो करणलब्धि में 'जिन' कहे हैं। चतुर्थ गुणस्थान के पूर्व समीप की दशा उसमें उन्हें जिन कह दिये। क्योंकि अपूर्वकरण किया। किसी पूर्वकाल में ऐसी अपूर्वदशा में जीव आया नहीं। ऐसी दशा में आता है। है अबुद्धिपूर्वक के परिणाम। सूक्ष्म है।

**'सर्वागज्ञान से परिपूर्ण चैतन्यवस्तु में स्थिर होते शुद्धता होती है।'** इसमें भी फिर से लिया कि सर्वागज्ञान से भरी, सर्वाग ज्ञान से परिपूर्ण। यह प्रवचन चलता है ज्ञानुभूति का अतः वस्तु को ऐसे देखते हैं कि प्रदेश-प्रदेश में सर्वाग, सर्व प्रदेशों में ज्ञान से भरी वस्तु है। कितना ज्ञान भरा है ? कि, जिसकी कोई हद नहीं उतना ज्ञान भरा है। ऐसे ज्ञान से प्रदेश-प्रदेश में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त ज्ञान से सभर वस्तु है। उसमें रहते हुए, वह मैं हूँ, ऐसे। उसमें रहते यानी वह मैं हूँ, ऐसे ज्यों उसभाव में रहा, वस्तु तो वस्तु में ही रही है, परन्तु जीव का भाव अन्यत्र जाता था कि, यह शरीर सो मैं हूँ, यह राग सो मैं हूँ और इसके अलावा दूसरे संयोग में स्वयं रहता था। क्या कहते हैं ? कि, मैं तो शरीर में रहता हूँ, मैं तो घर में, बंगले में रहता हूँ, मैं मंदिर में रहता हूँ तो कहते हैं कि, नहीं सर्वाग ज्ञान से परिपूर्ण जो वस्तु है उसमें रह जा। भाव से उसमें रहने से शुद्धता होती है, ऐसा लिया है। इसतरह सर्वागज्ञान से भरी हुई वस्तु में रहने से, 'रहते' का ऐसा होता है कि, अपने

अस्तित्व का, अपनी हयाती का अनुभव होना, सर्वागज्ञान से परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यवस्तु में अपनी हयाती का अनुभव होना उसे शुद्ध चैतन्य में रहा ऐसा कहा जाता है। और ऐसे रहने से शुद्धता होती है, रागादि मलिनता का अभाव होता है, सर्व प्रकार की दोष की मलिनता का सम्यक् रूप से नाश होता है। नाश होता है इतना ही नहीं, सम्यक्पने उसका नाश होता है और सुखादि गुणों की उत्पत्ति होती है।

शुद्ध चैतन्य में स्थिर होते शुद्धता होती है। **'और अशुद्धता का नाश होता है'** योग के कंपनरूप अशुद्धता तेरहवें गुणस्थान तक है। अरिहंत परमात्मा को देहसहित परमात्मदशा वर्तती है फिर भी योग के कंपन की अशुद्धता वहाँ वर्तती है। अतः उसे असिद्धत्व कहा गया है। सिद्धदशा नहीं है, असिद्धत्व वहाँ है। सर्वाग ज्ञान से भरी वस्तु के अनुभव में उसका भी नाश होता है, वैसे अनुभव का भी नाश होता है।

**'अशुद्धता का नाश होता है - इसका नाम स्वयं का हित अर्थात् कल्याण है।'** जो अशुद्धता में है वह दोष में है, वह अहित में है। उसे अकल्याणभाव कहा जाता है। दोष में जीव को अपने स्वरूप की कल्पना होती है, एक कल्पना होती है कि मैं रागयुक्त हूँ, मैं संसारी हूँ, ऐसा हूँ और रागादि प्रकृति, ऐसी प्रकृति वह मेरा स्वभाव है। इस रूप हूँ ऐसी जो कल्पना है, दोषसहितपने की यही परिभ्रमण का मूल है, भवभ्रमण का मूल है।

'पुरुषार्थसिद्धिउपाय' की (१४वीं गाथा में) लिया है। रागादि से रहित होनेपर भी सर्व दोष से आत्मस्वरूप शुद्धचैतन्यवस्तु रहित होनेपर भी इसे सहित मानना वही भवभ्रमण का कारण है, मूल है, ऐसी बात ली है। 'पुरुषार्थसिद्धिउपाय' है यहाँ पर ? है है। 'गुरुदेवश्री' इस गाथा का आधार बहुत बार देते थे। पीछे छपवाई है। एवमयं 'इसतरह आत्मा' 'कर्मकृतैभावे' कर्मों से किये गये कर्मों के निमित्त से जिसमें कर्म की छाया मौजूद है ऐसे 'कर्मकृतैभावे' रागादि या शरीरादि भावों से... 'असमाहितोऽपि असंयुक्त' 'संयुक्त नहीं होनेपर भी...' असंयुक्त होने पर भी 'बालिशानां युक्तः इव' बालिश जीव हैं। मूर्ख कहना

हो, बालकबुद्धि कहनी हो उन्हें बालिश कहते हैं। यह शब्द तो प्रचलित है, हिन्दी-गुजराती में 'बालिश' शब्द तो प्रचलित है। 'बालिशानां युक्तः इव' बालक जैसे अज्ञानी जीवों को वह संयुक्त-सा 'प्रतिभाति' प्रतिभासित होता है, उन्हें लगता है। उन्हें ऐसा लगता है; ऐसा भासित होता है कि मैं रागमय हो चूका हूँ। पूरा का पूरा मैं राग में सराबोर हूँ, इसप्रकार राग में ऐसी एकाकार होकर दशा झूक जाती है कि, उसे लगता है कि बस ! मैं सर्वांग रागमय हूँ, क्रोधमय हूँ, दोषमय हूँ, ऐसा जो भासित होता है, ऐसा जो उसका प्रतिभास है... 'सः प्रतिभासः खलु' वास्तव में 'भवबीज' 'संसार के बीजरूप है।' ऐसा जो दोष का स्वरूप अनुभव, रागादि का स्वरूप में अनुभव वह भव के बीजरूप हैं। निर्भळ वह भिन्न ज्ञान का स्वप्ने अनुभव वह मोक्ष की कला है, वह आत्मा है। यह भवबीज की कला है जबकि वह मोक्ष की कला है। आमने-सामने हैं।

बहुत अच्छा ध्वनि है, हँ इसमें। 'सर्वांग ज्ञान से परिपूर्ण...' Tone बहुत अच्छा आया है। अनेक प्रकार के अशुद्धता के परिणाम की जो स्थिति बंधती है बंधन होता है... जैसे कि एक सारे दिन का हिसाब लिखा जाता है न ! सारा दिन व्यापार चले इसमें पैसे आते हैं और जाते हैं, पैसे आते हैं और जाते हैं। जमा और उधार, जमा और उधार की इसमें Entry होती रहती हैं, पुरांत-Balance कुछ पड़ी हो, फिर आवक-जावक चलती है शाम को दुकान बंद हो तब वापिस हिसाब होता है कि अब इसका Total-जोड़ कितना हुआ। क्या बचा ? वैसे सारी जिंदगी आत्मा में शुभ और अशुभ की Entry होती रहती हैं फिर जैसे Last में पुरांत एक बार आती है वैसे आयुष्य का बंध एक बार पड़ता है, इसका जो Total है न ! इसमें सब आमने-सामने Entry होती हैं आखिर में आयुष्य की Entry पड़ती है। नये भव का उन्हें बंध पड़ता है। उस Entry को नाश करे ऐसे ये परिणाम हैं, ऐसा कहना है।

भले ही ज्ञानी को शुभाशुभ परिणाम होते हैं परन्तु उन्हें नया भव हो उस प्रकार का मूल उनका कट गया है। एक-दो (भव) होते हैं जिसे वे फिर गिनते नहीं।

एक, दो, चार हो उन्हें फिर वे गिनते नहीं। वे तो उन्हें नहीं होने के बराबर हैं, क्योंकि उसमें उन्हें स्वपना नहीं रहा। वर्तमान भव में स्वपना नहीं रहा। फिर तो भविष्य के एक, दो, तीन हो उसमें भी उन्हें तो स्वपना है नहीं। अभी भी नहीं है तो, भविष्य में होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये उन्हें नहीं है ऐसा गिना जाता है। परन्तु जिसको उसके साथ एकत्व की ग्रंथी, गाँठ है, इसका कारण उसे अपने दोष में एकता है, दोष का पक्ष है, दोष के साथ एकता है इसलिये उसका फल संसार है या परिभ्रमण है। जो कि आत्मा को सबसे बड़ा अकल्याण का कारण गिना गया है। परिभ्रमण का जो मूल है, मिथ्यादर्शन की ग्रंथि अथवा रागादि परभाव के साथ एकत्व की परिभ्रमण की जो गाँठ है वह सबसे बड़ा अकल्याण है।

मुमुक्षु :- अशुभभाव का बंध तो पड़ता है न !

पूज्य भाईश्री :- अशुभभाव का बंध और शुभभाव का बंध। भाव तो करे और बंध नहीं पड़ने का क्या कारण हो सकता है ? भाव से तो बंध। जिस प्रकार का उसे शुभ या अशुभ राग हुआ उसमें खुद तो अपनत्व से बँधा, भाव से बंधा है वही भावबंध है, द्रव्यबंध तो उसमें निमित्त के रूप में लागू होता है। वरना मूल भावबंध तो उसी वक्त स्वयं-खुद ही भावबंधरूप में परिणमन करता है।

मुमुक्षु :- क्रियो हो या ना हो भाव से ही बंध है न ?

पूज्य भाईश्री :- बाहर में मन-वचन-काया की क्रिया हो या नहीं हो मन की क्रिया तो हो ही जाती है, वचन की या शरीर की क्रिया हो या नहीं हो लेकिन बंध तो उसे होवे ही होवे।

प्रश्न :- नींद में हो तो भी ?

समाधान :- नींद में सपने में भाव हो तो भी। वह जीव का (ही) भाव है न ! सपने में जो भाव होते हैं वह जीव के परिणाम हैं। उसका बंध होवे ही होवे। वह जीव का अशुद्ध परिणाम है। सपना है वह जीव का अशुद्ध परिणाम है। उसका भी उसे बंध होता है। ऐसा है।

प्रश्न :- बेहोश करे तब भी ?

समाधान :- बेहोश होवे तब भी वह वेदना में है। शरीर सो मैं इसकी वेदना में है। यह शरीर सो मैं हूँ ऐसा उसको है।

प्रश्न :- बंधन चालू ही है ?

समाधान :- बराबर बंधन चालू है।

शुद्ध चैतन्यवस्तु सर्वांगज्ञान से भरपूर शुद्ध चैतन्यवस्तु उसमें भावसहित रहने पर शुद्धता होती है और अशुद्धता का नाश होता है।

मुमुक्षु :- शुरुआती तीर्थकरों के आयुष्य लंबे थे।

पूज्य भाईश्री :- पूर्व के काल में तीर्थकरों और अन्य मनुष्य के, मनुष्य आयु ही लंबे थे। देवलोक में तो ऐसा है कि प्रत्येक देवलोक में, सोलह स्वर्ग के ऊपरी-ऊपरी जो स्थान हैं वहाँ-वहाँ तथारूप आयुष्य लेकर उत्पन्न होता है। कोई तैंतीस सागर का सर्वार्थसिद्धि का देव नीचे के देवलोक में नहीं उत्पन्न होता। वह आयुष्य के बंध के अनुसार ही अपने-अपने स्थान में ही उत्पन्न होते हैं। वहाँ भिन्न-भिन्न स्थान हैं। सोलह स्वर्ग और उनके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान। नीचे के स्वर्ग में छोटे आयुष्य हैं फिर ज्यों-ज्यों ऊपर के स्वर्ग में जाता है वैसे-वैसे उनके आयुष्य की स्थिति ज्यादा होती है, ऐसा है। जिसको जितना आयु का बंध हो तदनुसार उसका स्थान भी वहाँ नक्की होता है ऐसा है। अतः वहाँ कालानुसार कोई कमी-बैसी का सवाल नहीं है। वहाँ स्थान अनुसार, स्थल अनुसार आयुष्य है।

ऐसा ही नारकी में है। ऊपर के नरक में कम आयुवाले होते हैं और नीचे के नरक में लंबी आयुवाले जीव हैं। पहली नरक से दूसरी नरक नीचे हैं, जिसमें ज्यादा आयु होती है, दूसरी के मुकाबले तीसरी में जानेवाले की आयुअधिक लंबी होती है। चतुर्थ में इससे भी अधिक, पाँचवी में और अधिक, छठवीं में इससे भी अधिक सातवीं में तैंतीस सागर की आयु होती है। जैसे उत्कृष्ट देव की आयु तैंतीस सागर की होती है, वैसे नीचे सातवीं नारकी में तैंतीस सागर की आयु होती है। वहाँ भी स्थान अनुसार आयुष्य है। देव और नारक परस्पर विरुद्ध गति हैं। परन्तु शुभ के विभाग बहुत हैं अशुभ के सात विभाग

हैं। सात नरक के सात विभाग हैं। (उपर) सोलह स्वर्ग और पाँच अनुत्तर विमान सोलह स्वर्ग और पाँच अनुत्तर विमान, सोलह और पाँच इक्कीस विभाग शुभभावों के भोग्यस्थान हैं। अशुभभाव को भोगने के सात विभाग हैं, और तिर्यच में तो कोई संख्या नहीं है इतना विभाग है। असंख्य विभाग तिर्यच के हैं। क्योंकि माया के परिणामों की विचित्रता बहुत है।

माया ऐसी चीज़ है, बहुत सहज भाव से जीव को हो जाती है, पता भी नहीं चलता। छोटा बच्चा हो और बाहर गली में शरारतें करता हो, लेकिन वह जानता है कि, मेरी शरारतों के बारे में अगर मेरे घर में पता चला तो मुझे डाँट पड़ेगी, उनके माँ-बाप, बुझुर्ग किसी से भी आँख मिल जायेगी तो (क्या कहेगा) ना, ना, मैं तो कहीं नहीं गया था, मैं तो यहीं पर था, ऐसा कहेगा। माया सिखानी नहीं पड़ती, सहजरूप से झूठ बोल देगा। जहाँ वह गुनाह करता पकड़े (जाने की संभावना हो..) सरलता में तो क्या है कि गुनाह कबूल किया जाता है कि मेरा यह दोष है और यह दोष को मैं नहीं चाहता, अतः उस दोष की पक्कड़ (पक्ष) करने का उसे भाव नहीं होता उसे सरलता कहते हैं। ऐसी सरलता के परिणामों से दोष छूटते हैं। और ऐसी सरलता के परिणाम से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है।

मुख्यरूप से मनुष्यपना सीधा (शरीर) मीला वह सरलता के परिणामों से मिला है और इसी मनुष्यत्व में अधिक सरलता प्रगट करने की परिणाम में सानुकूलता है। यदि जीव अधिक सरलता प्रगट करता है सम्यक्दर्शन आदि मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेता है। यानी कि सम्यक्दर्शन भी विशेष सरलता में ही उत्पन्न होनेवाली एक भूमिका है, ऐसा है। जो कि माया से विरुद्ध है। वह माया से विरुद्ध है। अतः सम्यक्दृष्टि को तिर्यच की आयु का बंध नहीं होता। इतने अशुद्ध परिणाम की तीव्रता नहीं होती है कि, नरक का आयुबंध हो, हालाँकि वह तो तीव्र अशुभ है परन्तु इतना अशुभ भी नहीं होता है कि जिससे तिर्यच आयुष्य का बंध हो जाये। इन दोनों आयुष्य का उन्हें निषेध है, चारमें से दो का निषेध हो जाता है।



मुमुक्षु :- मनुष्य में आये हैं इसका दुरुपयोग होता है।

पूज्य भाईश्री :- मनुष्य में दुरुपयोग (होता है)। अतः अधिकांशरूप से तो जीव इसकाल में तिर्यच आयु का ही निबंधन करते हैं। हालाँकि चारों गति से अधिकतर जीव तिर्यचगति में ही जाते हैं। वहाँ संख्या बहुत बड़ी है। तिर्यचगति में, सारे विश्व में जो अनन्त जीव हैं उसमें Majority तिर्यच में हैं। मत लेना है क्या ? Majority से ! इसकी Majority तिर्यच में है ऐसा है। संख्या अधिक से अधिक तिर्यच में है। इससे अधिक संख्या देवलोक की है। नारकी का नंबर बाद में आता है। नरक में कम हैं और सबसे कम संख्या मनुष्यरूप में हैं, ऐसा है। असंख्यात जीव हैं। संख्यात् नहीं परन्तु संख्या से

पार जाकर असंख्यात जीव हैं।

मुमुक्षु :- सिद्ध भगवान की स्तुति में आता है न 'समाधान सर्वांग...'

पूज्य भाईश्री :- सर्वांग समाधान। सर्वांग ज्ञानस्वरूप कहो, सर्वांग सुख से भरी वस्तु कहो सर्वांग समाधान-समाधिभाव से भरी वस्तु कहो, शुद्ध चारित्र कहो या समाधिभाव कहो। चारित्रगुण है न ? सर्वांग भरा हुआ है। जैसे ज्ञानगुण सर्वांग है, वैसे आनंदगुण सर्वांग है, ऐसे चारित्रगुण भी सर्वांग है। और प्रत्येक गुण का सामर्थ्य अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... है। (७७ बोल पूरा) हुआ।

### (श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक)

चित्त अस्थिरवत् हो जाने का हेतु क्या है ? परमार्थ में जो चित्त विशेष एकाग्रवत् रहता था उस चित्त के परमार्थ में अस्थिरवत् हो जानेका कुछ भी कारण होना चाहिये। यदि परमार्थ संशय का हेतु लगा हो तो वैसा हो सकता है, अथवा कोई तथाविध आत्मवीर्य मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदय के बलसे वैसा होता है। इन दो हेतुओं से परमार्थ का विचार करते हुए, लिखते हुए या कहते हुए चित्त अस्थिरवत् रहता है। उसमें प्रथम कहे हुए हेतु का होना संभव नहीं है। मात्र दूसरा कहा हुआ हेतु संभवित है। आत्मवीर्य मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदय होने से उस हेतु को दूर करने का पुरुषार्थ होनेपर भी कालक्षेप हुआ करता है; और वैसे उदय तक वह अस्थिरता दूर होना कठिन है; और इसलिये परमार्थस्वरूप चित्त के बिना तत्संबंधी लिखना, कहना कल्पित जैसा लगता है, तो भी कितने ही प्रसंगों में विशेष स्थिरता रहती है। व्यवहार संबंधी कुछ भी लिखते हुए वह असारभूत और साक्षात् भ्रांतिरूप लगने से तत्संबंधी जो कुछ लिखना या कहना है वह तुच्छ है, आत्मा को विकलता का हेतु है, और जो कुछ लिखना, कहना है वह न कहा हो तो भी चल सकता है। अतः जब तक वैसा रहे तब तक तो अवश्य वैसा करना योग्य है, ऐसा समझकर बहुतसी व्यावहारिक बातें लिखने, करने और कहने की आदत चली गयी है। मात्र जो व्यापारादि व्यवहार में तीव्र प्रारब्धोदय से प्रवृत्ति है, वहां कुछ प्रवृत्ति होती है। यद्यपि उसकी भी यथार्थता प्रतीत नहीं होती।

श्री जिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे वारंवार छूटने की प्रेरणा दी है; और उस संयोग का विश्वास परम ज्ञानी के लिये भी कर्तव्य नहीं है, ऐसा निश्चल मार्ग कहा है, उन श्री जिन वीतराग के चरणकमल में अत्यंत नम्र परिणाम से नमस्कार है।

जो प्रश्न आज के पत्र में लिखे हैं उनका उत्तर समागम में पूछियेगा। दर्पण, जल, दीपक, सूर्य और चक्षु के स्वरूपपर विचार करेंगे, तो केवलज्ञान से पदार्थ प्रकाशित होते हैं, ऐसा जिनेन्द्रने कहा है, उसे समझने में कुछ साधन होगा।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-३० पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.७-८-१९९१

'वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ।' गुरुदेवके प्रवचनोंका सार मैंने यह लिया है कि, वर्तमानमें ही मैं परिपूर्ण हूँ। 'वर्तमानसे ही देवादिक पर...' आदिमें तीनों ले लेना - देव, गुरु, शास्त्र। 'अथवा उनआश्रित राग...' (यानी कि) उनके लक्ष्यपूर्वक होनेवाला जो शुभराग 'किंचित्मात्र लाभका कारण नहीं।' (अर्थात्) न तो देव, शास्त्र, गुरु मुझे लाभ कर देते हैं, न तो उनके प्रतिका राग मुझे लाभ करता है। फिर भी 'लाभ मानना ही अलाभ है।' (उसमें) मिथ्यात्वका नुकसान है, ऐसा कहना है। रागसे लाभ मानना या परद्रव्य मेरा कुछ कार्य कर देगा और मुझे लाभ करेगा ऐसा मानना, यह मिथ्यात्व है। वह नुकसान है।

'वेदनके अलावा अन्य कोई क्रिया जीवकी नहीं।' (अर्थात्) ज्ञानवेदन जो है वह जीवका गुण है, ज्ञानगुण है सो जीवका स्वभाव है, (यानी कि) ज्ञान, ज्ञानका वेदन करे वह जीवका स्वभाव है, और इसके अलावा (दूसरी) कोई क्रिया जीवकी नहीं। 'शरीरआश्रित अथवा परआश्रित आकुलित वेदनको,...' (अर्थात्) परिणमनमें जो आकुलताका अंश है उसे 'समकाले...' (अर्थात्) उस ही काल-वर्तमानकालमें चलता हो उस वक्त ही। यहाँ समकालका अर्थ ऐसा है। वर्तमानमें वर्तता हो उसवक्त ही, आकुलताका वेदन होता हो उसवक्त ही 'ज्ञानवेदन द्वारा, गौण करते-करते नाश करना मुमुक्षुओंका ध्येय है।' इस एक पंक्तिमें उन्होंने भेदज्ञानकी प्रक्रियाका चितार दिया है। चालू-वर्तमान जो परिणमन कर रही पर्याय है, वर्तमानमें परिणमन करती हुई जो पर्याय है, उसमें ज्ञानवेदन भी है और उसमें रागादिका - आकुलताका भी वेदन है। अतः ज्ञानवेदनको मुख्य करके, ज्ञानवेदनका आदर

करके आकुलित वेदनको गौण करना यानी कि निषेध करना, उस प्रकारसे मुमुक्षुको आगे बढ़ना चाहिए। मुमुक्षुको अपने ध्येयके प्रति इस प्रकार, इस प्रक्रियासे आगे बढ़ना चाहिए।

यह रीत बता दी, लीजिए ! विधि (बतायी)।

मुमुक्षु :- ज्ञानीको ऐसी धारा चलती है ?

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानीको ऐसा चलता है (और) मुमुक्षुको भी इस प्रकारसे प्रयत्न - पुरुषार्थ करना चाहिए। वारंवार प्रयत्न करना उसे पुरुषार्थका अभ्यास कहनेमें आता है। जैसे बार-बार पढ़नेसे कंठस्थ हो जाये तो उसे ऐसा कहा जाता है कि, इसने बहुत अभ्यास किया इसलिए कंठस्थ हो गया। क्योंकि बार-बार पढ़ा। वैसे वारंवार पुरुषार्थ करना वह पुरुषार्थका अभ्यास है। वारंवार प्रयोग करना वह प्रयोगाभ्यास है। पुरुषार्थ और प्रयोग अविनाभावी है। यह तो अपने यहाँ बात चलती ही है।

मुमुक्षु :- वेदनके अलावा अन्य कोई क्रिया जीवकी नहीं, ऐसा यहाँ कहा - परंतु यह वेदनकी क्रिया तो दिखती नहीं है ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं दिखती है क्योंकि जीव देखनेका प्रयत्न नहीं करता है। (वेदन) है, जब है फिर भी नहीं दिखता हो तो देखनेका प्रयत्न करना चाहिए, और तो क्या कर सकते हैं ? यह दूज होती है न दूज ! ये मुसलमान लोग दूजको खास देखते हैं, मानते हैं न बहुत ! (इसलिए) वे लोग दूजके दर्शन करते हैं। सुदी-दूज पतली लकीर-सी होती है। इकाई तो न दिखे, संभव है, परंतु दूज भी इतनी पतली होती है कि दिखे नहीं। वे लोग दूज उगते ही दर्शन करते हैं क्योंकि



उसका उगनेका समय भी शामका है, अतः अंधेरा थोड़ा कम होता है, अतः जल्दीसे नहीं दिखे। एक कहे मुझे दर्शन हो रहा है, जिसको नहीं होता हो उसको लगेगा इनको दर्शन होता है, मुझे क्यों नहीं होता ? फिर उसे बराबर अंगुली निर्देश करके दिखायेगा कि, देखो ! मैं कहता हूँ, मेरी अंगुलीकी दिशामें सीधा गौरसे देखो ! वहाँ दूज है। मुझे स्पष्ट दिखती है। तो क्या करेगा, पहले अंगुलीको देखेगा फिर अंगुली देखना छोड़कर आकाशकी ओर देखेगा, तब उसे दूज दिखेगी। परंतु अंगुलीको न देखे तो आकाशका क्षेत्र तो बहुत बड़ा है कहाँसे दिखेगा ? वह अंगुली जो दिखाता है उस अंगुलीकी ठीक सीधी दिशामें देखे कि, (इस तरफ) अंगुली निर्देश किया है, उस तरफ मुझे देखना है, अन्यथा नहीं देखता है। बस ! ऐसा ही है। ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानवेदन है। ज्ञानवेदन है उतनी ही आत्माकी क्रिया है। इतना ही आत्मा है ! बोल इससे ज्यादा क्या कहे ? तेरा अनुभूतिस्वरूप आत्मा इतना ही है, ऐसा तू देख। 'स्वपने अनुभवमें आनेवाला ज्ञान ही आत्मा है' इतना ही आत्मा है। (तू कहता है) मुझे आत्मा नहीं दिखता, तो हम तुझे अंगुली निर्देश करते हैं, उस तरफ देखनेका प्रयत्न कर। इतनी (सी) बात है। यह सीधी बात है। प्रयास करे और दिखे नहीं, ऐसा नहीं बनता। इस मार्गकी एक सुविधा ऐसी है कि इस मार्गमें जिसने भी प्रयत्न किया है, कोई निष्फल नहीं गया। अन्यथा प्रयत्न किया हो तो निष्फल जाये यह तो स्वाभाविक है। परंतु जो सच्चा प्रयत्न करे वह निष्फल जाये ऐसा कभी नहीं बनता। अतः भावना है वह फलवान हुए बिना नहीं रहती। इसका कारण यह है। चौदह ब्रह्मांड फिर जाये (तो भी) भावना फलवान हुए बिना नहीं रहती। अवश्य फलवान होवे ही।

मुमुक्षु :- ज्ञानवेदनका आविर्भाव करना, ऐसा आता है न ! ज्ञानवेदनका आविर्भाव करना और

परवेदनका तिरोभाव करना।

पूज्य भाईश्री :- आविर्भाव करो ऐसा कहो, चाहे मुख्य करो ऐसा कहो, दोनों एक ही बात हैं। अन्य सब गौण करना। राग और रागका वेदन - आकुलता और रागका विषय (ये) सब गौण करना और ज्ञानवेदनको मुख्य करना।

मुमुक्षु :- उसवक्त जो क्रिया हुई वह शुद्धोपयोग हुआ ? या लब्धमें गया ?

पूज्य भाईश्री :- निर्विकल्पताके कालमें शुद्धोपयोग कहा जाता है। जब कि इसे शुद्धोपयोगका प्रयत्न कहा जाता है। भेदज्ञानके फलमें शुद्धोपयोग होता है। यह भेदज्ञानका प्रयास है।

मुमुक्षु :- पंद्रहवीं गाथा लागू हो सकती है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, (समयसारजीकी) पंद्रहवीं गाथामें यह बात की है। (यहाँ चलते हुए विषयमें क्या कहते हैं) कि समकाल अर्थात् चलते हुए परिणामनमें, ऐसा करना। अब यह ज्ञानवेदन सहजरूपसे कब उदित होगा ? यानी कि शुद्धोपयोग कब होगा ? देखो ! शुद्धोपयोगकी बात अब आगे आती है। शुद्धोपयोगमें (आत्मा) वेदनमें आता है न !

**'यह ज्ञानवेदन अखण्ड त्रिकाली अपरिणामी ध्रुव अस्तित्वमयी स्वपनेके अनुभवमें सहज ही उदय होता है।'** (अर्थात्) त्रिकाली ध्रुवमें अपना अस्तित्व या दृष्टि स्थापित करता है, श्रद्धा स्थापित करता है, श्रद्धा व्याप्य-व्यापकभावसे प्रसरती है तब ज्ञानवेदन स्वतः उदय होता है अथवा प्रगट हो जाता है। **'रागसे भेद करता...'** (समयसारजीकी) पंद्रहवीं गाथामें ज्ञानकी प्रधानतासे बात की है। यहाँ दृष्टि प्रधानतासे बात की है, बस ! बात तो एक ही चली है। वहाँ ज्ञान प्रधानतासे बात की है, यहाँ श्रद्धा प्रधानतासे बात की है। वहाँ (समयसारजीमें) अब यहाँ शुद्धनयसे कहेंगे, ऐसे करके बात ली है। शुद्धनयसे कहो चाहे ज्ञानकी (प्रधानतासे) कहो, (दोनों एकार्थ ही हैं।)

**'रागसे भेद करता...'** यानी कि रागसे भिन्न

होता हुआ 'ज्ञान) निःशंकित निराकुल सुख वेदनके साथ प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट होता है।' यह ज्ञानकी प्रधानतासे बात की है। जब वह रागसे भिन्न पड़ता है तब ज्ञान स्वयं निःशंकितरूप हो जाता है। निःशंकता वह ज्ञानका निर्दोषताका गुण है। शंका है सो अवगुण है। निःशंकितरूपसे निराकुल सुखवेदनके साथ... क्योंकि निराकुलता खुदको ही वेदनमें आती है न ! (इसलिए ऐसा कहा।) प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट होता है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षरूप स्वयं प्रगट हो जाता है। जैसे ही ज्ञानने इन्द्रियोंका घर छोड़ा (यानी कि) कभी चक्षुइन्द्रिय, कभी कर्णेन्द्रिय, वैसे अलग-अलग इन्द्रियोंमें जो उपयोग घूमता था, एक ही उपयोग पाँचों घरमें वेगपूर्वक घूमता था, वह इन्द्रियका घर छोड़ा और अतीन्द्रिय हुआ कि प्रदेश-प्रदेशमें वेदन आना चालू हुआ। सर्व प्रदेशसे अखण्ड एक आत्माका एक चैतन्यअखण्डपिंडका वेदन आता है। वह प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट होता है (उसका भाव है)।।

'वृद्धि पामता-पामता अनंत सुख व ज्ञानका लाभ करता है।' और ऐसा जो वेदन है वह वृद्धिगत होता है और पूर्ण सुख व पूर्ण ज्ञानका, अनंत

सुख व अनंत ज्ञानका लाभ (करता है)। यानी कि उत्पन्न करता है। 'अप्रसिद्ध अवेदक मुख्य अखण्ड स्वभावमें श्रद्धाके स्वअस्तित्वरूपमें प्रसरते ही प्रसिद्ध वेदन गौण होकर एक ही काल त्रिकाली व वर्तमान दोनों भावोंका अनुभव होता है।' त्रिकाली (स्वभाव) जो है वह तो अप्रसिद्ध है क्योंकि शक्तिरूप है। पर्यायकी तरह उसका व्यक्त उत्पाद नहीं होता। इसलिए अव्यक्त कहो, अप्रसिद्ध कहो (सब एकार्थ हैं)। समयसारजीकी ४९ वीं गाथामें अव्यक्तके छः बोल लिए हैं न ! वह 'अप्रसिद्ध अवेदक...' शक्तिमें वेदन नहीं होता, त्रिकालीमें वेदन नहीं होता, द्रव्यस्वभावमें वेदन नहीं होता, पर्यायमें वेदन है। यह तो कल थोड़ी चर्चा चली थी कि, आश्रय है उसका वेदन नहीं और वेदन है उसका आश्रय नहीं। पर्यायमें वेदन है तो उसका आश्रय नहीं है। पर्यायमें सुख और आनंद वेदनमें आते हैं, स्वसंवेदनका वेदन भी पर्यायमें आता है परंतु उसका आश्रय नहीं लेता। देखो ! यह ज्ञानीकी विचक्षणता कहो, विलक्षणता कहो, वह इसमें है !! कि वेदन करते हैं पर्यायका परंतु उसका आश्रय नहीं लेते।  
(शेष अंश अगले अंक में..)

### क्षमापना

वीतराग देव-गुरु-शास्त्र, सत्पुरुष के प्रति और सर्व मुमुक्षुजीव के पति किसी भी प्रकार के अविनय, अशातना, विराधना के परिणाम हुए हो उन सभी के प्रति शुद्ध अंतःकरणपूर्वक क्षमा याचना करते हैं।  
(-स्वानुभूतिप्रकाश परिवार)

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (सितम्बर-२०११) का शुल्क श्रीमति निलीमाबहेन मेहुलभाई गाला, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

## पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- साधक की भूमिका में शुभराग आये उसे साधक हेयरूप जानता है वह ठीक है। जिज्ञासु की भूमिका में- आप कहते हैं तदनुसार- अंतर में ज्ञायक और बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु दोनों रहते हैं परंतु हमें ऐसा लगता है कि यदि देव-गुरु को साथ रखने जायेंगे तो अनादि से जीवको व्यवहार का पक्ष है, उसकी रुचि है, इसलिये व्यवहार की रुचि होने की संभावना नहीं लगती ?

समाधान :- रुचिवान जीव को बीच में देव-शास्त्र-गुरु आये बिना नहीं रहते। मुझे अपना स्वरूप पहिचानने में कैसे आये, गुरु मुझे क्या मार्ग बतलाते हैं, गुरुने क्या कहा है-ऐसे विचार आये बिना नहीं रहते; परन्तु उससे उसे व्यवहार का पक्ष आ जाता ऐसा नहीं है। उसे भावना रहती है इसलिये भक्ति आये बिना नहीं रहती। गुरु ऐसा कहते हैं कि तू अपने शुद्ध आत्मा को पहिचान, समस्त शुभभावों से तेरा शुद्धात्मा भिन्न है; तथापि जिज्ञासु को शुभभाव आये बिना नहीं रहते, परन्तु उनमें व्यवहार का पक्ष नहीं आ जाता। यदि वह जीव व्यवहार से लाभ माने, उसमें सर्वस्व माने, उससे मोक्ष की प्राप्ति होना माने तो व्यवहार का पक्ष आता है। मगर जो शुभभाव आये उनमें व्यवहार का पक्ष नहीं आता; कारण कि शुभभाव आते हैं उनके साथ जिज्ञासु की श्रद्धा ऐसी नहीं हो जाती कि इस शुभभाव से मुझे लाभ है। जिज्ञासु की श्रद्धा और रुचि उसमें एकाकार हो नहीं जाती।

जिज्ञासु को बुद्धिपूर्वक ऐसा निर्णय होता है कि गुरुने कहा है कि तेरा शुद्धात्मा विकल्परहित निर्विकल्प तत्त्व है; शुभभाव तेरा स्वरूप नहीं है; ऐसा गुरुने जो कहा है वह उसने विचारपूर्वक दृढ़ किया है; इसलिये शुभभाव आनेपर उसमें व्यवहार का पक्ष आकर वैसी श्रद्धा नहीं हो जाती।

शुभभाव से मुझे लाभ होगा, देव-शास्त्र-गुरु मुझे लाभ कर देंगे, वे करें वैसा होगा, मैं अपने पुरुषार्थ से कुछ नहीं कर सकता- ऐसी मान्यता जिसके नहीं है, उसे व्यवहार का पक्ष नहीं आता। जिसे ऐसी श्रद्धा है कि मैं अपने से करूँ तभी होगा, तथापि गुरु मुझे उपकाररूप हैं, मुझे गुरुने ही सब कुछ दिया है ऐसी शुभभावना आती है, परन्तु उससे व्यवहार का पक्ष नहीं आ जाता। उसकी श्रद्धा तो जुदी ही रहती है।

यथार्थ श्रद्धा की तो बात कुछ और ही है, वह सहजरूप से ज्ञानीको-भेदज्ञानी को वर्तती है। जिज्ञासु को भी बुद्धिपूर्वक जो श्रद्धा है उस श्रद्धा में भूल नहीं आती। गुरु की भक्ति करे उसमें श्रद्धा की भूल नहीं आती, उसमें व्यवहार का पक्ष नहीं आता। जिज्ञासु देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति करता है तथापि व्यवहार का पक्ष नहीं आ जाता। उसमें सर्वस्व माने तब व्यवहार का पक्ष आता है।

जिनको भेदज्ञान प्रगट हुआ है ऐसे आचार्य धवलादि शास्त्रों की रचना करते हैं, कोई अध्यात्म-शास्त्र रचते हैं, तो उसमें पक्ष आ जाता है ? पद्मनंदी आचार्यने भक्ति के शास्त्र रचे हैं, तो उसमें व्यवहार का पक्ष नहीं आ जाता, वहाँ भी भेदज्ञान की धारा साथ में वर्तती है। जिज्ञासुने निर्णय किया है कि इन सब विभावों से पृथक् मैं चैतन्यद्रव्य हूँ; वह भले-ही बुद्धिपूर्वक निश्चय किया है तथापि उसे भक्ति के भाव आये और उन कार्यों में संलग्न हो उससे कहीं भक्ति के कार्य से व्यवहार का पक्ष नहीं आ जाता। (स्वानुभूतिदर्शन-२३९)



५८६

ॐ

बंबई, चैत्र वदी १२, रवि, १९५१

अधिक विचार का साधन होने के लिये यह पत्र लिखा है।

पूर्णज्ञानी श्री ऋषभदेवादि पुरुषों को भी प्रारब्धोदय भोगनेपर क्षय हुआ है; तो हम जैसों को वह प्रारब्धोदय भोगना ही पड़े इसमें कुछ संशय नहीं है। मात्र खेद इतना होता है कि हमें ऐसे प्रारब्धोदय में श्री ऋषभदेवादि जैसी अविषमता रहे इतना बल नहीं है; और इसलिये प्रारब्धोदय के होनेपर वारंवार उससे अपरिपक्वकालमें छूटने की कामना हो आती है, कि यदि इस विषम प्रारब्धोदयमें कुछ भी उपयोग की यथातथ्यता न रही तो फिर आत्मस्थिरता प्राप्त करने के लिये पुनः अवसर खोजना होगा; और पश्चातापपूर्वक देह छूटेगी; ऐसी चिंता अनेक बार हो आती है।

यह प्रारब्धोदय मिटकर निवृत्तिकर्मका वेदन करनेरूप प्रारब्ध का उदय होने का आशय रहा करता है, परंतु वह तुरत अर्थात् एकसे डेढ़ वर्षमें हो ऐसा तो दिखायी नहीं देता; और पल पल बीतना कठिन पड़ता है। एक से डेढ़ वर्ष के बाद प्रवृत्तिकर्म का वेदन करनेरूप उदय सर्वथा परिक्षीण होगा, ऐसा भी नहीं लगता; कुछ उदय विशेष मंद पड़ेगा, ऐसा लगता है।

आत्मा की कुछ अस्थिरता रहती है। गत वर्ष का मोती संबंधी व्यापार लगभग पूरा होने आया है। इस वर्ष का मोती संबंधी व्यापार गत वर्ष की अपेक्षा लगभग दुगुना हुआ है। गत वर्ष जैसा उसका परिणाम आना कठिन है। थोड़े दिनों की अपेक्षा अभी ठीक है; और इस वर्ष भी उसका गत वर्ष जैसा नहीं तो भी कुछ ठीक परिणाम आयेगा, ऐसा संभव रहता है। परंतु बहुतसा वक्त उसके विचार में व्यतीत होने जैसा होता है, और उसके लिये शोक होता है, कि यह एक परिग्रहकी कामना के बलवान प्रवर्तन जैसा होता है, उसे शांत करना योग्य है; और कुछ करना पड़े ऐसे कारण रहते हैं। अब जैसे तैसे करके उस प्रारब्धोदय का तुरत क्षय हो तो अच्छा, ऐसा मनमें बहुत बार रहा करता है।

जहां जो आदत और मोती संबंधी व्यापार है, उससे मेरा छूटना हो सके अथवा उसका बहुत प्रसंग कम हो जाये, वैसा कोई रास्ता ध्यानमें आये तो लिखियेगा; चाहे तो इस विषयमें समागममें विशेषता से कहा जा सके तो कहियेगा। यह बात ध्यान में रखियेगा।

लगभग तीन वर्षसे ऐसा रहा करता है कि परमार्थ संबंधी अथवा व्यवहार संबंधी कुछ भी लिखते हुए उद्वेग आ जाता है; और लिखते लिखते कल्पित जैसा लगने से वारंवार अपूर्ण छोड़ देना पड़ता है। जिस समय चित्त परमार्थ में एकाग्रवत् होता है तब यदि परमार्थ संबंधी लिखना अथवा कहना हो तो वह यथार्थ कहा जाये, परंतु चित्त अस्थिरवत् हो और परमार्थ संबंधी लिखना या कहना किया जाये तो वह उदीरणा जैसा होता है, तथा उसमें अन्तर्वृत्तिका यथातथ्य उपयोग न होने से, वह आत्मबुद्धि से लिखा या कहा न होने से कल्पितरूप कहा जाता है। उससे तथा वैसे दूसरे कारणों से परमार्थ संबंधी लिखना तथा कहना बहुत कम हो गया है। इस स्थलपर सहज प्रश्न होगा कि

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१७ पर)

